मोहरिते सच्चवयणस्स पलिमंथू (ठाणंगसुत्त, ५२९)

श्री हेमचन्द्राचार्य

अनुसंधान

प्राकृतभाषा अने जैनसाहित्य विषयक संपादन, संशोधन, माहिती वगेरेनी पत्रिका

२०

संपादक

विजयशीलचन्द्रसूरि

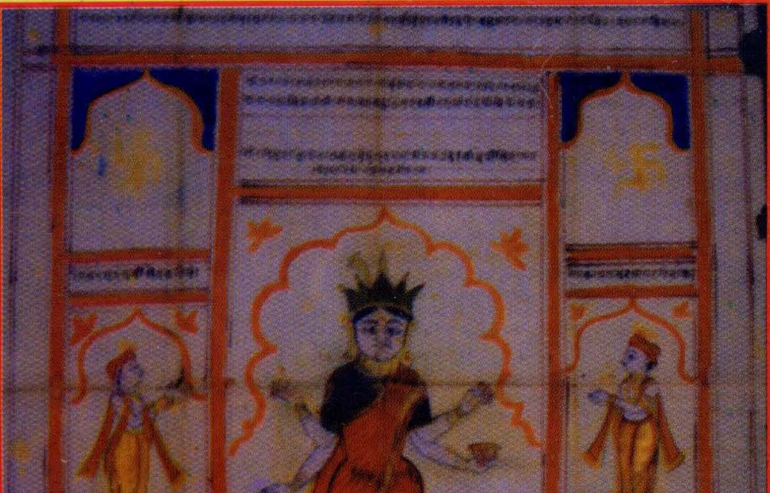

पं. दीपविजय - आलिखित "वसुधारा" चित्रपट

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य नवम जन्मशताब्दी
स्मृति संस्कार शिक्षणनिधि
अहमदाबाद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोहरिते सच्चवयणस्स पलिमंथू (ठाणंगसुत्त, ५२९)
'मुखरता सत्यवचननी विघातक छे'

अनुसंधान

प्राकृतभाषा अने जैनसाहित्य-विषयक
संपादन, संशोधन, माहिती वगेरेनी पत्रिका

२०

संपादक
विजयशीलचन्द्रसूरि

श्रीहेमचन्द्राचार्य

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य नवम जन्मशताब्दी
स्मृति संस्कार शिक्षणनिधि
अहमदाबाद
२००२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुसंधान २०

आद्य संपादक : **डॉ. हरिवल्लभ भायाणी**

संपादक : **विजयशीलचन्द्रसूरि**

संपर्क : C/o. **अतुल एच. कापडिया**
A-9, जागृति फ्लेट्स, पालडी
महावीर टावर पाछळ
अमदावाद-३८०००७

मूल्य : रू. ५०/-

प्रकाशक : **कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य नवम जन्मशताब्दी स्मृति संस्कार शिक्षणनिधि, अहमदाबाद**

प्राप्तिस्थान : (१) **आ. श्रीविजयनेमिसूरि जैन स्वाध्याय मन्दिर**
१२, भगतबाग, जैननगर, नवा शारदामंदिर रोड,
आणंदजी कल्याणजी पेढीनी बाजुमां,
अमदावाद-३८०००७

(२) **सरस्वती पुस्तक भंडार**
११२, हाथीखाना, रतनपोल,
अमदावाद-३८०००१

मुद्रक :

क्रिशना ग्राफिक्स, किरीट हरजीभाई पटेल
९६६, नारणपुरा जूना गाम, अमदावाद-३८००१३
(फोन : ०७९-७४९४३९३)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निवेदन

यात्रा ए मनुष्यजीवननी अत्यंत उमदा, उपयुक्त अने उन्नायक प्रवृत्ति छे. यात्राना विविध प्रकारोमां तीर्थयात्रा अने पदयात्रानी जेम बोधयात्रा अने शोधयात्रानो पण समावेश थाय छे. 'अनुसन्धान' पत्रिका ए शोधयात्रानी प्रवृत्ति छे. आ यात्रा- प्रवृत्तिमां जेटला वधु सहयात्रिको जोडाय तेटलो वेग, उत्साह, परिणाम वगेरेमां वधारो अने लाभ थाय. संस्कृतनी प्रख्यात गद्योक्तिमां कह्युं पण छे के 'एको ध्यानं, द्विरध्यायी, त्रिभिः पन्थाः', अर्थात् यात्रामां त्रण (के तेथी अधिक) सहयात्री होवा घटे. सौने आमंत्रण - पुनः पुनः !

- **विजयशीलचन्द्रसूरि**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रम

१.	आगमिक श्री जयतिलकसूरिकृतो सवृत्तिकः चतुर्हारावली चित्रस्तवः	—सं. विजयशीलचन्द्रसूरि	1
२.	महोपाध्याय श्रीयशोविजय गणिकृत आत्मसंवादः	—सं. विजयशीलचन्द्रसूरि	36
३.	केटलीक प्रकीर्ण लघु-रचनाओ	—सं. विजयशीलचन्द्रसूरि	95
४.	वसुधारा धारणी अने 'वसो'नुं वसुधारामंदिर	—विजयशीलचन्द्रसूरि	103
५.	टूंक नोंध		109
६.	प्रकाशन माहिती		111
७.	स्मृतिशेष		115

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगमिक श्री जयतिलकसूरिकृतो सवृत्तिकः चतुर्हारावली चित्रस्तवः ॥

सं. विजयशीलचन्द्रसूरिः

मध्यकालीन जैन कविओए संस्कृत भाषामां चित्र-विचित्र प्रकारनी असंख्य रचनाओ करी छे. एमां जेटली प्रकाशित छे ते करतां अप्रकाशित रचनाओनो जथ्थो बहु मोटो छे. अनुसन्धान'ना माध्यमथी आवी थोडीक कृतिओ पण संस्कृतज्ञोना हाथमां पहोंचाडवानो अदनो प्रयास छे.

'चतुर्हारावलीचित्रस्तव' नामनी एक लघु रचना अहीं आपवामां आवी छे. आमां १४ पद्योनो एक एवा चार 'हार' नी रचना थई छे. प्रत्येक हारमां १२ रत्नो, १३मा पद्यरूप १ नायक/मुख्य रत्न (पेन्डन्ट) के मध्यमणि, अने लटकता रत्नपुष्पसमान १४मुं पद्य-आम योजना जोवा मळे छे. तमाम पद्यो चित्रकाव्यरूप छे, तेमां पण मध्य-मणिरूप ४ पद्यो तो चित्र-बन्ध काव्यात्मक छे.

आ स्तोत्रोमां कविने जैन परंपराने मान्य एवा ९६ तीर्थंकरोनां नामो गुंथवापूर्वक स्तवना करवानुं अभिप्रेत छे. प्रत्येक पद्यमां बे तीर्थंकरोनां नामो वणी लीधां होई १२ पद्योमां २४ तीर्थंकरो समाई गया छे. ९६ जिननी समजूती आ प्रमाणे छे : भरतक्षेत्रमां थयेल ऋषभदेवथी महावीरस्वामी सुधीना, वर्तमान समयना २४ तीर्थंकरोनी गुंथणी प्रथम हारस्तवमां; अतीत (भूत) काळमां थयेला केवलज्ञानीथी संप्रतिजिन सुधीना २४ जिनेश्वरोनी गुंथणी बीजा स्तवमां; आगामी (भविष्य) काळमां थनारा पद्मनाभथी भद्रकृत् सुधीना २४ जिननी गुंथणी त्रीजा स्तोत्रमां; अने हालमां महाविदेह क्षेत्रोमां विहरी रहेला (विहरमाण) सीमन्धरस्वामी आदि २० तथा जैन परंपरामां शाश्वतजिन तरीके ओळखाता ४ एम २४ जिननी गुंथणी चतुर्थस्तोत्रमां करवामां आवी छे.

कविए क्रम पण मजानो गोठव्यो छे. प्रथम अने चोवीशमा ए बे जिन प्रथम श्लोकमां; बीजा अने त्रेवीशमा जिन बीजा श्लोकमां; - एम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आनुपूर्वी अने पश्चानुपूर्वीना सुमेळमां १२मा पद्यमां १२ मा अने १३मा भगवाननां नाम अने स्तवन आवी जाय. आ उपरथी ९६ जिननां नामो क्रमशः आम गोठवी शकाय :

१. प्रथम स्तोत्र गत वर्तमान २४ जिन : - ऋषभ, अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुविधि, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुंथु, अरपति, मल्लि, (मुनि) सुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व, महावीर.

२. द्वितीयस्तोत्रगत अतीत २४ जिन :- केवलज्ञानी, निर्वाणी, सागर, महायशः, विमल, सर्वानुभूति, श्रीधर, दत्तदेव, दामोदर, सुतेजः, श्रीस्वामी, मुनिसुव्रत, सुमति, शिवगति, अस्ताघ, नमीश्वर, अनल, यशोधर, कृतार्थ, जिनेश्वर, शुद्धमति, शिवकर, स्यंदन, संप्रति.

तृतीयस्तोत्रगत अनागत २४ जिनः - पद्मनाभ, सूरदेव, सुपार्श्व, स्वयंप्रभ, सर्वानुभूति, देवश्रुत, उदय, पेढाल, पोट्टिल, सितकीर्ति, सुव्रत, अमम, निष्कषाय, निष्पुलाक, निर्मम, चित्रगुप्त, समाधि, संवर, यशोधर, विजय, मल्लदेव, देवदेव, अनंतवीर्य, भद्रकृत्.

चतुर्थ स्तोत्रगत २० विहरमाण तथा ४ शाश्वत जिन :- सीमंधर, युगंधर, युगबाहु, सुबाहु, सुजात, वृषभानन, विशाल, रविप्रभ, स्वयंप्रभ, अनन्तबल, चन्द्रानन, वज्रधर, भुजंग, वीरासन, चन्द्रबाहु, नेमिप्रभ, ईश्वर, अजित, देवयशा, महाभद्र, ऋषभ, चन्द्रानन, वारिषेण, वर्ध्धमान.

आ श्लोकोमां चार चरणना प्रथम अक्षरोना संयोजनथी तीर्थंकरनुं नाम रचाय, अने तेवी ज रीते चारे चरणना अंतिम अक्षरोना संयोजनथी पण नाम बनी जाय, ते रीते पदरचना करवानी होवाथी आ शब्दप्रधान रचना बने छे, अने ते कारणे ज अर्थ-गांभीर्य न अनुभवाय तो ते समजी शकाय तेवुं छे; सह्य छे. आ ज कारणे कविए उपजाति छंद पसंद कर्यो जणाय छे. तीर्थंकरोनां नामो क्यारेक ओछा-वधता अक्षरोना होय छे, तो ते वधाराना अक्षर पछीना पद्यमां गोठवेल छे, अने ओछा अक्षर थता होय त्यां पछीना नामनो अक्षर गोठवीने कार्य निर्वाह थयो छे, तेवुं पण जोवा मळे छे.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रचनानी खरी विशिष्टता, दरेक स्तवने अंते आवता बंधकाव्य-पद्यमां छे. पद्मबन्ध, स्वस्तिकबन्ध, वज्रबन्ध अने बन्धुकस्वस्तिक बन्धनी तेमज तेनां पद्योनी रचना जोतां कविना पाण्डित्य प्रत्ये माथुं नमी जाय छे.

आ हारावलीना कर्ता श्रीजयतिलकसूरि छे; एमनुं दीक्षानाम जयशेखर हशे, अने सूरिपद प्राप्त थया बाद तेओ जयतिलकसूरि एवुं नाम पाम्या हशे, तेमज तेमना गुरुनुं नाम चारित्रप्रभगुरु हतुं, तेटलुं तो प्रथम अने बाकीना स्तोत्रोना १४मा पद्य परथी जाणी शकाय छे. कवि पोताने 'आगमिक' विशेषणथी वर्णवे छे, एटले ते आगमगच्छना होवानुं समजाय छे. कवि क्यांय पोतानो समय, आ रचनानो समय के आ प्रति, जे कविना ज हस्ताक्षरमां होवानुं सहेजे अनुमानी शकाय तेम छे तेनो लेखनसमय पण नोंधता नथी. परंतु प्रतिनी लखावट परथी ते सोळमा शतकमां लखाई होय तेवुं अनुमान थाय छे, अने ते आधारे कविनो सत्ता समय पण ते शतक होवानुं अनुमान थाय छे.

भावनगर-आत्मानन्द जैन सभामां रहेला 'मुनि भक्तिविजय-ग्रंथसंग्रह'नी क्र. ९८०/६ ए प्रतिनी फोटो कोपी उपरथी आ वाचना संपादित करवामां आवी छे. प्रति ६ पानांनी छे, अने सुन्दर-सुवाच्य अक्षरलेखनना उत्तम नमूनारूप छे. दरेक पद्योनां चित्र-कोठा कविए पोते ज बनावी मूकी दीधा छे. मूल स्तव-काव्य अने तेनी टीका-बन्ने एक ज कर्ता-कृत छे. आ प्रतनी फोटोकोपी लेवानी मंजूरी आपवा बदल आत्मानन्द सभाना तत्कालीन कार्यवाहक स्व. श्रीहीरालाल बी. शाहनो आभार मानुं छुं.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्हारावलीचित्रस्तवः सटीकः ॥

॥ द० ॥ ध्यात्वाऽऽर्हतं महत् तेजः सुखव्याख्यानहेतवे ।
चतुर्हारावलीचित्र-स्तवटीकां करोम्यहम् ॥१॥

इह तावद् वर्तमानातीतानागत-विहरमान-शाश्वतजिनानां चतस्रश्चतुर्विंशतिका वर्तन्ते । पादस्याऽऽद्यन्तयोर्हारानुकारविन्यस्तै-र्जिननामवर्णैश्चत्वारः स्तवाः । तत्राऽऽसन्नोपकारित्वात् प्रथमं तावद् वर्त्तमानजिनस्तवं व्याचिख्यासुः पूर्वाऽपश्चिमजिननामाक्षरहारनिबद्धं जिनद्वय-स्तवरूपं प्रथमं वृत्तामाह ॥ स्थापना चेयं-

श्री	नाभिसूनो ! जिनसार्वभौ	म
वृ	षध्वज ! त्वन्नतये ममे	हा
ष	ड्जीवरक्षापर ! देहि दे	वी
भ	र्च्चितं स्वं पदमाशु वीं	र

व्याख्या : हेश्रीनाभिसूनो ! हे जिनसार्वभौम !-सामान्यकेवलिचक्रवर्तिन् ! वृषध्वज-वृषभाङ्क ! त्वन्नतये-त्वन्नमस्काराय मम-मे ईहा-वाञ्छा, वर्तते इति सम्बन्धः । श्रीनाभिसूनुस्तावदन्योऽपि कोऽपि भविष्यतीति आशंसानिरासार्थ जिनसार्वभौमाः- सर्वेऽप्यर्हन्तः । अतः प्रथमजिननिर्धारणाय वृषभध्वज-(वृषध्वज)इति पदम् । इति पूर्वार्द्धेनाद्यं जिनं स्तुत्वाऽपरार्द्धेनापश्चिमजिनस्तवमाह- हे षड्जीवरक्षापर ! । पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसलक्षणाः षट् जीवाः, तेषां रक्षा-पालनं, तत्परः षडजीवरक्षापरः, तस्य सम्बोधनम् । हे वीर-वर्द्धमान ! त्वं आशु-शीघ्रं स्वं-निजं पदं-मोक्षलक्षणं स्थानं देहि-वितर । किंविशिष्टं पदं ? देवीभर्त्रर्च्चितं; देव्यो देवाङ्गनाः,तासां भर्तारो-देवाः, तैरर्चितं-पूजितम् । तैरप्याराधितं सर्वोत्कृष्टत्वादित्यर्थः ॥१॥

अथ द्वितीय-त्रयोविंशतितमजिनस्तवमाह ! स्थापना-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री	नन्दनाद्या व्यथयन्ति पा	पा
अ	वाप्तदेवाजित ! मां सुपा	र्श्व
जि	नाङ्गिनां रोगततिर्विली	ना
त	वाभिधानादपि पार्श्वना	थ

व्याख्या : हे आप्त-हितकारिन् ! देव ! अजित ! श्रीनन्दनाद्याः-कामक्रोधलोभमानहर्षाः पापाः- पापिष्ठाः मां व्यथयन्ति-पीडयन्ति । त्वं अव-रक्ष हे सुपार्श्व-सुष्ठु-शोभनं पार्श्वं समीपं यस्य तस्यामन्त्रणं सुपार्श्व-शोभनसमीप ! । अथ द्वितीयार्धव्याख्या: हे पार्श्वनाथजिन ! अङ्गिनां-शरीरिणां रोगततिः व्याधिपरम्परा तव-भवतोऽभिधानान्नामतोऽपि विलीना-विलयं जगाम इत्यर्थः ॥२॥

अथ तृतीय-द्वाविंशतितमजिनस्तवमाह । स्थापना-

सं	सारपारोऽजनि मेऽद्य जा	ने
भ	वत्पदौ सम्भव ! यद् यजा	मि
व	श्यां स्वयं ते मदमोहमा	ना
अ	नङ्गभङ्गे सति नेमिना	थ

व्याख्या : सम्भव-तृतीयजिनपते ! अहमिति जाने-ऽवगच्छामि अद्य मे- मम संसारपारोऽजनि- भवसमाप्तिर्बभूव । यद्-यस्मात् कारणाद् भवत्पदौ-त्वच्चरणौ यजामि-पूजयामि । अथाऽपरार्द्धव्याख्याः हे नेमिनाथ-द्वाविंशतितमजिन ! अनङ्गभङ्गे-कामजये सति मदमोहमानाः स्वयमात्मनो वश्या-वशत्वं ययुरित्यर्थः ॥३॥

अथ चतुर्थैकविंशतितमजिनस्तवमाह । स्थापना-

भि	देलिमेना अभिनन्दने	न
न	न्द त्वमंह्री तव पूजया	मि
द	या दरिद्रेऽपि नृपे समा	ना
न	मे ! कथं ते मयि सा न ना	थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या : हे अभिनन्दनेन- हे अभिनन्दनस्वामिन् ! त्वं नन्द-समृद्धिं भज । किंविशिष्टस्त्वं ?, भिदेलिमैना: - भिदेलिमानि भेदेन निर्वृत्तानि एनांसि-पापानि यस्य स तथा । विसर्गलोपे सन्धिनिषेध: । तथाऽहं तव-भवत: अंह्री-पादौ पूजयामी(मि)-अर्चयामीति । अथोत्तरार्धव्याख्या: हे नमे-एकविंशतितमजिनेन्द्र ! नाथ-स्वामिन् ! ते-तव दया-कृपा नृपे-राज्ञि दरिद्रेऽपि समाना-तुल्या वर्तते । तर्हि सा-दया मयि-विषये कथं न ? । यदि सा कृपा मयि विषये भवति तदाऽहं तया संसारवासान्मुक्तो भवामि इत्यर्थ: ॥४॥

अथ पञ्चम-विंशतितम जिनस्तवनमाह । स्थापना-

श्री	खण्डवत्तापहरा शिव	श्री
सु	खाय गीस्ते सुमते ! प्रजा	सु
म	हस्तु ते सुव्रतदेव ! ती	व्र
ति	रस्क्रियाकृत् तमसोऽपि ता	त

व्याख्या : हे सुमते-पञ्चमजिनपते ! ते-तव गी: -वाणी प्रजासु-लोकेषु शिवश्रीसुखाय-मोक्षलक्ष्मीशर्मणे वर्त्तते । किंविशिष्टा गी: ?, तापहरा-बाह्याभ्यन्तरसन्तापहारिणी । किंवत्?, श्रीखण्डवत्-चन्दनवत् । अथोत्तरार्धव्याख्या: -तु पुनरर्थे, हे सुव्रतदेव- हे मुनिसुव्रतस्वामिन् ! ते-तव मह:- तेजोऽपि तमस:-पाप्मन: तीव्रतिरस्क्रियाकृत्- अत्यर्थतिरस्कारकारि, किं पुनस्तव दर्शनमिति ज्ञेयम् । हे तात- हे जगत्पितर् ! इत्यामन्त्रणं सुव्रतस्येत्यर्थ : ॥५॥

अथ षष्ठैकोनविंशयोर्जिनेन्द्रयो: स्तुतिरूपं वृत्तमाह । स्थापना-

प	द्मप्रभाक्षिद्वयमंहसा-	म-
द्म	रं मुदे ते स्थिरपक्ष्मव	ल्लि
प्र	भो ! प्रभाते भुवि दीप्यमा	नाऽ
भ	जद् यमीत्वं जिनमल्लिना	थ

व्याख्या : हे पद्मप्रभ-षष्ठजिनपते ! ते-तव अक्षिद्वयं-लोचनयुगलं मुदेऽस्तु-प्रमोदाय भवतु । कथंभूतं ?, अंहसां-पापानां अद्मरं-भक्षणशीलं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुनः कथंभूतं ?, स्थिरपक्ष्मवल्लि-स्थिरा-निश्चला पक्ष्मवल्ली-पक्ष्मलता यस्य तत्तथा । ध्यानस्तिमितत्वात् निश्चलपक्ष्मलताकमित्यर्थः । अथोत्तरार्धव्याख्याः- हे प्रभो-स्वामिन् ! मल्लिनाथजिन ! ते-तव प्रभा-कान्तिर्भुवि- पृथिव्यां दीप्यमाना- इतस्ततो दीव्यन्ती यमीत्वं-यमुनात्वं अभजद्-अशिश्रियत् । नीलवर्णत्वाद यमुनाप्रवाहानुकारं चकारेत्यर्थः ॥६॥ अथ सप्तमाष्टादशजिनयुगलस्तवमाह । स्थापना-

श्री	मान् सुपार्श्वोऽपि हि निस्तमा	अ
सु	मत्सुखं देशनया चका	र
पा	रंगतः पातकवल्लरी	प
र्श्व	ग्रं जनं चारपतिः पुना	ति

व्याख्या : श्रीमान्-तीर्थकरलक्ष्मीवान् सुपार्श्वः- सप्तमो जिनः निस्तमा अपि-निर्मोहोऽपि हि-निश्चयेन देशनया-धर्मोपदेशदानेन असुमत्सुखं- सर्वप्राणिसौख्यं चकार-कृतवानित्यर्थः । अथोत्तरार्धव्याख्याः-च समुच्चये । अरपतिः-अरनाथो जनं-लोकं पुनाति-पवित्रयति । कथंभूतोऽरपतिः ?, पारं गतः- संसारसमुद्रपारं प्राप्तः । अपरं कथंभूतः ?, पातकवल्लरीपर्श्वग्रं- पातकान्येव वल्लर्यः, पर्शोरग्रं पर्श्वग्रं, पातकवल्लरीणां पर्श्वग्रं-पापलताकुठाराग्रम् । इदमाविष्ट-लिङ्गम् । इत्यर्थः ॥७॥

अथाऽष्टमजिन-सप्तदशजिनस्तवमाह । स्थापना-

च	न्द्रप्रभाऽणोर्हर मेऽघशं	कुं
द्र	ष्टास्मि हृत्ते समकुंभिकुं	थु
प्र	वालतां मुञ्चति नाप्ययं	ना
भ	क्तः सुवर्णे त्वयि कुन्थुना	थ

व्याख्या : हे चन्द्रप्रभ-अष्टमजिनपते ! त्वं मे-मम अणोः- दुर्बलस्य अघशङ्कुं-पापशङ्कां हर-उद्धर । यतोऽस्म्यहं ते-तव हृत्-चेतः समकुम्भिकुन्थु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रष्टा-अवलोकयिता । कुम्भी च कुन्थुश्च कुम्भिकुन्थू, समौ निर्विशेषं स्थितौ कुम्भिकुन्थौ(न्थू) यत्र तत्तथा । किमुक्तं भवति ?, भगवन् ! तव कुम्भिनि-कुञ्जरे कुन्थौ च सूक्ष्मजीवविशेषे समाना मैत्री । अतो मे दुर्बलस्य व्यथाकारिपापशल्यापहारं कुर्विति । अथोत्तरार्धव्याख्या:-हे कुन्थुनाथ-सप्तदशजिनेश्वर ! अयं-मल्लक्षणो ना-पुमान् त्वयि-भवति सुवर्णे-शोभनवर्णे भक्तोऽपि भक्तियुक्तोऽपि प्रबालतां-प्रकृष्टमूर्खतां न मुञ्चति-न त्यजति । अन्यो य: सुवर्णे-शोभनाक्षरे मन्त्रे भक्तो भवति स मूर्खो न स्यात् । अहं पुनरद्यापि ज्ञानवान् न भवामीति भावार्थ : ॥८॥ अथ नवम-षोडशजिनस्तवनमाह । स्थापना-

श्री	रङ्गजा ते सुविधे सदा	शां
सु	धांशुगौरी विशदीकरो	ति
वि	श्वैकवन्द्योऽसि मृगाङ्कना	ना
धि	नोषि कोकानपि शान्तिना	थ

व्याख्या : हे सुविधे-नवमजिनेन्द्र ! ते-तव अङ्गजा-शरीरसम्भवा श्री:-कान्ति: सदासां(शां)-साधुकामनां अविशदामपि विशदां करोति विशदीकरोति- निर्मलीकरोतीत्यर्थ: । किंविशिष्टा श्री: ?, सुधांशुगौरी-चन्द्रधवला । अथोत्तरार्द्धव्याख्या:-हे शान्तिनाथ-षोडशजिनेन्द्र ! मृगाङ्क-मृगलाञ्छन ! त्वं विश्वैकवन्द्योऽपि-विश्वजनैकवन्दनीयोऽसि । न केवलं विश्वैकवन्द्य:, नाना-अनेकप्रकारान् कोकान्-विचक्षणानपि धिनोषि-प्रीणासि । अन्यो यो मृगाङ्क: स विश्वैकवन्द्य: परं कोकान्-चक्रवाकान् न धिनोति, परं भवान् मृगाङ्कोऽपि विश्वैकवन्द्य: कोकप्रीतिकारकश्चापीत्यर्थ: ॥९॥ अथ दशम-पञ्चदशजिनस्तवनगर्भं वृत्तमाह । स्थापना-

श्री	शीतल त्वां जितमोहयो	ध
शी	लाढ्य याचे जिनराजश	र्म
त	व स्वरूपं हृदि संदधा	ना
ल	यं लभन्ते त्वयि धर्मना	थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या : हे श्रीशीतल-दशमजिनपते ! जितमोहयोध-निर्जितमोहमल्ल ! शीलाढ्य-शीलधनेश्वर ! अहं त्वां-भवन्तं जिनराजशर्म-तीर्थकरसौख्यं याचे-मार्गयामि । अथापरार्द्धव्याख्या:- हे धर्मनाथ-पञ्चदशजिनेन्द्र ! जीवास्तव स्वरूपं-भवतो वीतरागत्वं हृदि-हृदये संदधाना-ध्यायन्तः त्वयि-भवति लयं लभन्ते-स्थानं प्राप्नुवन्तीत्यर्थ : ॥१०॥

अथैकादश-चतुर्दशजिनस्तवमाह । स्थापना-

श्री	वत्सिनि श्रीर्हृदि तावके	श्री
श्रे	यांस सक्ता नितरामहो	अ
यां	मे निजां देहि वदान्य दी	नं
स	मीक्ष्य वीराग्रिम मामनं	त

व्याख्या : अहो इति सम्बोधने । श्रीश्रेयांस-एकादशजिनपते ! अ:-विष्णुः, अ इव अः, लुप्तोपमत्वाद् विष्णूपमः, तस्य सम्बोधनं अहो अ ! अहो श्रेयांसविष्णो ! ओदन्तनिपातत्वादसन्धिः । तावके-भवदीये हृदि-हृदये श्रीः-लक्ष्मीः नितरां-अतिशयेन सक्ता-आसक्ता वर्तते । किंविशिष्टे हृदि ?, श्रीवत्सिनि-श्रीवत्सयुक्ते । अथापरार्द्धव्याख्या:-हे अनन्त-चतुर्दशजिनपते ! वीराग्रिम-युद्ध-दानधर्मवीरशिरोमणे ! वदान्य-दानशूर ! प्रियवाक् ! च । इमानि त्रीण्या-मन्त्रणपदानि । मां दीनं-दुस्थं समीक्ष्य-विलोक्य मे-मह्यं निजां-स्वां लक्ष्मीं देहि-वितरेत्यर्थः ॥११॥ अथ द्वादश-त्रयोदशजिनस्तवनमाह । स्थापना-

वा	ग् वासुपूज्यागमिकी श्रुति	श्री
सु	खं कषन्ती भवताऽभ्यसा	वि
पू	र्णा ममाशा विमलाद्य ना	म
ज्य	या समं लीनशिरो नतोऽ	लं

व्याख्या : वासुपूज्य-द्वादशजिनपते ! आगमिकी-आगमसम्बन्धिनी वाग्-वाणी भवता-त्वयाऽभ्यसावि-अभिसुषुवे । किं कुर्वन्ती ?, श्रुतिश्रीसुखं कषन्ती-वेदलक्ष्मीसुखं विनाशयन्ती वेदमार्गोच्छेदकेत्यर्थः । अथोत्तरार्द्धव्याख्या:-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाम सम्बोधने । हे विमल-त्रयोदशजिनपते ! अद्य ममाऽऽशा पूर्णा मनोरथोऽपूरि। अहं ज्यया-पृथिव्या समं लीनशिरो यथा भवति, एवं अलं-अत्यर्थं नतोऽस्मि-क्षितितलनिहितोत्तमाङ्गं यथा भवति एवं प्रणतोऽस्मीत्यर्थः ॥१२॥

अथ हारे सर्वोत्कृष्टो नायकमणिः स्यात् । अतः तत्स्थाने चतुर्विंशतिपत्रप्रतिबद्धपद्मबन्धेन सर्वजिनस्तुतिमाह-

नवीनपीनस्वनमानगान किं
नराननानर्घ्यनवेन मानसे ।
न मानधा नम्रनरेनका नता
नवं नवं न स्वनता न जैनपाः ॥१३॥

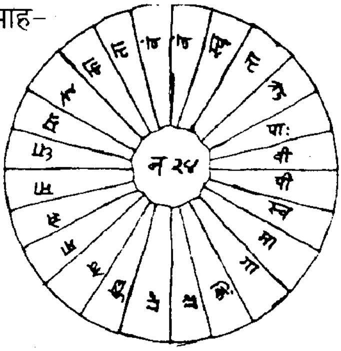

व्याख्या : जिनो देवता येषां ते जैना-अर्हद्भक्ताः, तान् जैनान् पान्ति-रक्षन्ति ये देवास्ते जैनपा-जिना इत्यर्थः । मयेत्यध्याहार्यम् । मया जैनपा जिना नवं-नूतनं नवं-स्तवं स्वनता-ब्रुवता न न नता अपि तु नता-नमस्कृता एव। द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः इति । किंविशिष्टा जिनाः?, मानसे-चित्ते न मानधाः। मानं दधतीति मानधाः, न मानधा-मानरहिता इत्यर्थः । केन ?, नवीनपीनस्वन-मानगानकिंनराननानर्घ्यनवेन । कोऽर्थः ? उच्यते: नवीनं-नूतनं पीनं-पीवरं स्वनानां-स्वराणां मानं-प्रमाणं यत्र तानि नवीनपीनस्वनमानानि, एवंविधानि गानानि येषु किंनराननेषु तानि नवीनपीनस्वनमानगानकिंनरानननानि, तेषामनर्घ्योमहार्थो योऽसौ नवः स्तवः तेन । मानं न कुर्वन्तीत्यर्थः। अपरं किंविशिष्टाः ? नम्रनरेनकाः । नराणामिनाः स्वामिनो नरेनाः, नम्राणि-नमनशीलानि नरेनानां कानि-मस्तकानि येषां ते नम्रनरेनकाः-नम्रनरेश्वरमौलय इत्यर्थः ॥१३॥

अथ स्तवसमाप्तिचित्रनामार्थान्तरेण कविः स्वनामकथनाय सर्वदेव-स्तुतिरूपं वृत्तमाह-

इत्थं नायकपद्मरागरुचिरा सत्कण्ठभूषाकरी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

येषां नाममयी सुवर्णमणिभिर्हारावली निर्मिता ।
चारित्रप्रभदीक्षितस्तुतपदा देयासुरुच्चैर्जिनाः
श्रीशत्रुंजयशेखरद्युतिभृतः सर्वेऽपि ते मङ्गलम् ॥१४॥

व्याख्या : इत्थं-अमुना प्रकारेण येषां नाममयैः सुवर्णमणिभिः-शोभनाक्षरमणिभिः हारावली-हारयष्टिर्नर्मिता-निर्ममे । किंविशिष्टा ?, नायकपद्मरागरुचिरा, नायकस्थाने-तरलमणिपदे चतुर्विंशतिदलपद्मं तस्य रागेण रुचिरा-प्रधाना । अपरं किंविशिष्टा?, सत्कण्ठभूषाकरी । सतां कण्ठाः सत्कण्ठाः, तेषां भूषां-शोभां करोतीति सत्कण्ठभूषाकरी । अन्याऽपि हारावली भवति सा नायकपद्मरागरुचिरा सत्कण्ठभूषाकरी भवति, सुवर्णमणिभिर्निर्मीयते, अत एषाऽप्येवम् । ते सर्वेऽपि जिना मङ्गलं देयासुः-वितीर्यासुः । उच्चैरतिशयेन । किंविशिष्टा जिनाः ?, चारित्रप्रभदीक्षितस्तुतपदाः । चारित्रे चरणे प्रभा येषां ते तथा । अपरं किंविशिष्टाः ?, श्रीशत्रुंजयशेखरद्युतिभृतः । श्रीशत्रुंजयो-विमलाचलः । तस्य शेखरद्युतिं-मुकुटकान्तिं बिभ्रति-पुष्णन्तीति श्रीशत्रुंजयशेखर-द्युतिभृतः-श्रीशत्रुंजयमुकुटतुल्या इत्यर्थः ॥ अथवा-ते सर्वे जिना अमङ्गलं-पापं उच्चैरतिशयेन देयासुः-छिन्द्यासुः । 'दो अवखण्डने' अस्य धातोः प्रयोगः । खण्डयन्त्वित्यर्थः । किंविशिष्टममङ्गलम् ?, श्रीशत्रुं-लक्ष्मीवैरिणम् । किंविशिष्टा जिनाः ?, जयशेखरद्युतिभृतः- जयशेखरकवेर्द्युतिं - कान्तिं बिभ्रति-पुष्णन्ति इत्यर्थः । अपरं किंविशिष्टाः ?, चारित्रप्र[भ]दीक्षितस्तुतपदाः- "चारित्रप्रभनाम-गुरोर्दीक्षितः शिष्यः, तेन स्तुतपदा- नुतांह्रय इत्यर्थः । इत्यर्थान्तरेण कविनाम-प्रकाशः । इति वृत्तार्थः ॥१४॥

इत्यागमिकश्रीजयतिलकसूरिकृता हारावलिप्रथमचित्रस्तवटीका समाप्ता ॥

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२)

अथ द्वितीयातीतचतुर्विंशतिकास्तवं व्याचिख्यासुः प्रथमं वृत्तमाह । स्थापना-

के	केवलज्ञानिजिने शिव	श्री
व	रं न याचन्त इहात्मभा	सं
ल	सन्त्यलं संप्रति देव दी	प्र
ज्ञा	नार्णवे कच्छपवज्जगं	ति

व्याख्या : के-जीवाः इह-संसारे केवलज्ञानिजिनं- अतीतचतुर्विंशतिकायाः प्रथमतीर्थंकरं आत्मभासं-परमात्मकान्ति न याचन्ते ? काक्वा अपितु सर्वेऽपि याचन्ते-मार्गयन्ति । किंविशिष्टं जिनं ?, शिवश्रीवरं-मुक्तिलक्ष्मीकान्तम् ॥ अथापरार्द्धव्याख्याः-संप्रतिदेवदीप्रज्ञानार्णवे अतीतचतुर्वि-शतिकापश्चिमजिनदीपन-ज्ञानसागरे जगन्ति-विश्वानि कच्छपवत्-जलचरा इव लसन्ति इत्यर्थ : । सर्वत्र पातनिका पूर्ववत् ॥१॥ द्वितीयवृत्तस्थापना-

नी	ता न निर्वाणपदं जनाः	श्री
नि	र्वाणिना के न विनैव दा	स्यं
वा	णी तव स्यन्दन सौख्यकं	द
णी	धातुवत्प्राप्तिवदा न किं	न

व्याख्या : अत्र संसारे श्रीनिर्वाणिना-द्वितीयजिनेन दास्यं विनैव-दासत्वमन्तरेणैव के-जना निर्वाणपदं न न प्रापिता अपि तु नीता एवेत्यर्थः ॥ अथापरार्द्धव्याख्याः हे स्यन्दन-त्रयोविंशजिनपते ! हे सौख्यकन्द - सर्वसुखमूल ! तव वाणी-सरस्वती किं न न प्राप्तिवदा ? अपि तु प्राप्तिवदैव। किंवत् ?, णीधातुवत्- 'णीञ् प्रापणे' णी धातुः प्राप्तिं ब्रूते, तथा तव वाणी सर्वस्यापि प्राप्तिं वदतीत्यर्थ : ॥२॥ अथ तृतीयवृत्तस्थापना-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री	सागरस्त्वं कुरु मेऽविना	शि
सा	रं सुखं सागरदेव दे	व
ग	रिष्ठतां को गदितुं शशा	क
र	सज्ञया ते शिवकृज्जिता	र

व्याख्या : हे सागरदेव देव ! त्वं मे-ममाऽविनाशि-अविनश्वरं सारं-सर्वोत्कृष्टं शर्म कुरु । किंविशिष्टस्त्वं ?, श्रीसागरो-लक्ष्मीसमुद्र इत्यर्थः ॥ अपरार्द्धार्थः - हे शिवकृत् - शिवकर ! हे जितार-निर्जितशात्रवसमूह ! ते-तव गरिष्ठतां रसज्ञया जिह्वया गदितुं-वक्तुं कः शशाक ? अपि तु न कोऽपीत्यर्थः ॥३॥ अथ चतुर्थवृत्तस्थापना-

म	हायशस्तीर्थपते त्वया	शु
हा	स्यादिषट्कं विजितं विशु	द्ध
य	शो दिशस्ते निखिला जगा	म
शा	र्वांगरुक् शुद्धमतेस्तरी	ति

व्याख्या : हे महायशः- तीर्थपते ! हे विशुद्ध-निर्मल ! त्वया भवता आशु-शीघ्रं हास्यादिषट्कं- हास्यरत्यरतिभयजुगुप्साशोकलक्षणं षट्कं विजितं-विजिग्ये । अथोत्तरार्द्धव्याख्याः-हे शुद्धमते ! ते-तव यशो निखिलाः- समस्ता दिशो जगाम । किंविशिष्टं यशः ?, शार्वाङ्गरुक्- शर्व-ईश्वरः तस्येदं शार्वं च तदङ्गं च शार्वाङ्गं, शार्वाङ्गवत् रुक्-कान्तिर्यस्य तत् शार्वाङ्गरुक्-ईश्वराङ्गधवलम् । अपरं किंविशिष्टं ?, अस्तरीति- अस्ता क्षिप्ता रीतिः- मर्यादा येन तदस्तरीति-निर्मर्यादमित्यर्थः ॥४॥ अथ पञ्चमवृत्तमाह । स्थापना-

श्री	मन्नत त्वां विमलाक्षरा	जि-
वि	राजितं को विमलं न मे	ने
म	नोरथं कस्य भवान्न वि	श्व
ल	क्ष्मीपते देव जिनेश्वरा	र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या : हे श्रीमन्नत ! श्रीमद्भिर्नतः-नमस्कृतः श्रीमन्नतस्तस्यामन्त्रणम् । हे विमलजिन ! त्वां-भवन्तं विमलं-निर्मलं को न मेने ? अपि तु सर्वः कोऽपि ज्ञानवान् । किंविशिष्टं त्वां ?, अब्जराजिविराजितं-कमलश्रेणिशोभितम् ॥ अथापरार्धव्याख्याः- हे जिनेश्वर देव ! हे विश्वलक्ष्मीपते ! समस्तकमलास्वामिन् ! भवान् कस्य मनोरथं नार न जगामेत्यर्थः ॥५॥ अथ षष्ठवृत्तस्थापना-

स	र्वानुभूते तव केवल	श्री
र्वा	गीशवाचामपि चित्रता	कृत्
नु	तिस्तवैषा पुनरुक्तिभू	ता
भू	योर्थिता यत् क्रियते कृता	र्थ

व्याख्या : हे सर्वानुभूते ! तव केवलश्रीः-केवललक्ष्मीः वागीशवाचामपि-बृहस्पतिवाणीनामपि चित्रताकृद्- आश्चर्यकारिणी ॥ अथापरार्धव्याख्याः- हे कृताऽर्थ ! यत्ते भूयोऽर्थिता- अत्यर्थार्थवत्त्वं क्रियते-निर्मीयते । एषा तव नुतिः-स्तुतिः पुनरुक्तिभूता-चर्वितचर्वणरूपा इत्यर्थः ॥६॥ अथ सप्तमवृत्तमाह । स्थापना-

ति	लत्रिभागे न तुला मिया	य
श्री	श्रीधरस्यापि भवान् हिमां	शो
ध	र्मद्रुमाराममिदं प्रबो	ध
र	म्यं श्रयामीति यशोधरो	रः

व्याख्या : हे हिमांशो-चन्द्र ! भवान् श्रीश्रीधरस्य जिनस्य तिलत्रिभागेऽपि तुलां न इयाय-साम्यं न प्राप । एतावता सौम्यतया हिमांशोरपि श्रीश्रीधर उत्कृष्ट इत्यर्थः ॥ द्वितीयार्द्धव्याख्याः - अहं इतिकारणाद् यशोधरोरः-यशोधरवक्षः (क्ष)श्रयामि-भजामि । इतीति किम् ?, यतः इदं धर्मद्रुमारामं-धर्मवृक्षोद्यानं, किंविशिष्टं ? प्रतिबोधरम्यं-प्रबोधः प्रकृष्टो बोधः विकाशश्च तेन रम्यं-मनोहरमित्यर्थः ॥७॥ अथाऽष्टमवृत्तमाह । स्थापना-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द	त्तक्रमौ विश्वतमोलता	अ
त्त	श्चन्द्रसूर्याविव रुक्चये	न
दे	वो मुदे वोऽस्त्वनलो विशा	ल
व	क्षा विपक्षागदवानल	श्रीं

व्याख्या : दत्तक्रमौ-दत्तजिनपादौ रुक्चयेन- कान्तिसमूहेन विश्वतमोलता-जगत्पातकवल्लरी: अत्तो- भक्षयतः । काविव?, चन्द्रसूर्याविव ॥ अथापरार्द्धव्याख्या:- अनलो देवो वो-युष्माकं मुदेऽस्तु । कं(किं)भूतः ?, विशालवक्षा-विस्तीर्णहृदयः । अपरं कथंभूतः ? विपक्षाऽगदवानलश्रीः-विपक्षा-वैरिणस्त एवाऽगा वृक्षाः, तेषां दवानलश्रीः वनवह्निलक्ष्मीः भस्महेतुरित्यर्थः ॥८॥ अथ नवममाह । स्थापना-

दा	मोदरे यः प्रणतिं तता	न
मो	हं विजित्याशु स मोक्षगा	मी
द	दाति भक्ताय नमीश्वरो	श्व
र	त्नादिलक्ष्मीः शिवमप्युदा	रः

व्याख्या : दामोदरे जिने यः प्रणतिं ततान-नमस्कारमकार्षीत्, स आशु-शीघ्रं मोहं विजित्य मोक्षगामी-मुक्तिं यास्यति । अपरार्द्धव्याख्या:-नमीश्वरो जिनो भक्ताय-जनाय अश्वरत्नादिलक्ष्मीर्ददाति, तथा न केवल-मश्वरत्नादिलक्ष्मीर्ददाति, शिवमपि-मोक्षमपि वितरतीत्यर्थः । किंविशिष्टः ?, उदारः-दानशौण्डः ॥९॥ दशमवृत्तमाह । स्थापना-

श्री	मान् सुतेजाः परमोन्मना	अ
सु	खक्षयायास्तु नयैकशा	स्ता
ते	रे त्वयास्ताघ भवार्णवौ	घ
जा	त्याकुलोऽस्ताघलसज्जड	श्रीः

व्याख्या : श्रीमान् सुतेजा जिनः असुखक्षयाय-दुःखविनाशायाऽस्तु ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किंविशिष्टः ?, परमं-प्रकृष्टं उद्गतं मनो यस्य स तथा । अपरं किंविशिष्टः ? नयानामेकोऽद्वितीयः शास्ता-अनुशासकः स तथा । अथापरार्द्धव्याख्याः- हे अस्ताघ जिन ! त्वया भवार्णवो-भवसमुद्रः तेरेऽतारि । किंविशिष्टः ?, अघ जात्याकुलः-अघानां-पापानां जातयोऽघजातयः । समुद्रपक्षे तु अघात्-पापात् जातिः-जन्म येषां ते मकर-कच्छपादयः । तैराकुलो-व्याप्तः स तथा । अपरं किंविशिष्टः ?, अस्ताघा-महती लसन्ती जडानां-मूर्खाणां लक्ष्मीर्यत्र स तथा। समुद्रपक्षे ड-लयोरैक्ये प्रकटार्थ एव ॥१०॥ अथैकादशं वृत्तमाह । स्थापना-

श्री	स्वामिवक्त्राब्जमलीन् विका	शि
स्वा	मोदपूरेण समाजुहा	व
मी	मांसते कः शिवगत्यपां	ग-
मु	च्चैर्लयं यः श्रुतिषु प्रया	ति

व्याख्या : श्रीस्वामिवक्त्राब्जं-श्री स्वामिजिनमुखकमलं स्वामोदपूरेण-निजपरिमलसम्भारेण अलीन्-भ्रमरान् समाजुहाव-आमन्त्रयामास । किंविशिष्टं वक्त्राब्जं ?, विकाशि-विकस्वरं ॥ द्वितीयार्द्धव्याख्याः-यत्तदोर्नित्यमेव सम्बन्धः । तं शिवगत्यपाङ्गं-शिवगतिजिननेत्रपर्यन्तं को मीमांसते-को विचारयति यः शिवगत्यपाङ्ग उच्चैरतिशयेन श्रुतिषु-कर्णेषु लयं प्रयाति-गच्छति । श्लेषे श्रुतिषु-वेदेषु इत्यर्थः ॥११॥ अथ द्वादशवृत्तमाह । स्थापना-

नि	श्शक्तिरासीन्मुनिसुव्रत	श्री
सु	तोऽपि ते सद्व्रतखण्डना	सु
व्र	घ्नो यथा विश्वविसारिधा	म
त	थातिविश्वं सुमतिर्दधा	ति

व्याख्या : हे मुनिसुव्रतजिन ! श्रीसु[तो]ऽपि-कामोऽपि ते-तव स द्व्रतखण्डनासु-प्रधाननियमभङ्गेषु निःशक्तिरासीद्-अक्षमो बभूव ॥ अथ द्वितीयार्धव्याख्याः- व्रघ्नो-रविर्यथा-येन प्रकारेण विश्वविसारि-जगद्व्यापि धाम-तेजो दधाति-धारयति, तथा-तेन प्रकारेण सुमतिर्जिनः अतिविश्वं विश्वातिगं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धाम दधाति इत्यर्थ : ॥१२॥ अथ पदकस्थानस्वस्तिकचित्रमाह । स्थाप[ना]-

स्वस्तिकबन्धः

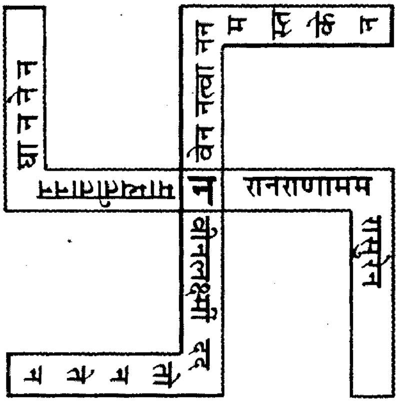

नरानराणाममरासुरेन नवीनलक्ष्मीं ददतो नतेन ।
नमाम्यतीताननघाननेन नवेन नुत्वा न न मस्तकेन ॥१३॥

व्याख्या : अतीतान् अनघान् जिनान् अनेन नवेन-स्तवेन नुत्वा-स्तुत्वा मस्तकेन-शिरसा न न नमामि । द्वौ नञौ प्रकृत[म]र्थं गमयतः । अपि तु नमाम्येव । किंनिशिष्टान् ?, नतेन-नमनेन नरानराणां-नरा - मनुष्या अनरा-देवाः, नराश्चाऽनराश्च नरानराः तेषाम् । अमरासुरेननवीनलक्ष्मीं- अमरा-देवाः असुरा-भवनपतयः तेषां नवीना-प्रत्यग्रा लक्ष्मीः-कमला तां ददतो-वितरतः इत्यर्थः ॥१३॥ अथ चतुर्दशं वृत्तम्-

इत्थं स्वस्तिकनायकेन रुचिरा सत्कण्ठभूषाकरी
येषां नाममयैः सुवर्णमणिभिर्हारावली निर्मिता ।
चारित्रप्रभदीक्षितस्तुतपदा देयासुरुच्चैर्जनाः
स्ते श्रीसूरिपदा[द्] जयादितिलकस्यास्यापि मे मङ्गलम् ॥१४॥

पादत्रयार्थः पूर्ववत् । चतुर्थपादो व्याख्यायते-ते जिनाः अस्य मे-मम श्रीसूरिपदानन्तरं जयादिपूर्वतिलकस्य-जयतिलकस्येत्यर्थ :, मङ्गलं-कल्याणं देयासुः-वितीर्यासुः । अपिशब्दादन्येषामपीत्यर्थ : ॥१४॥

इत्यागमिक श्रीजयतिलकसूरिकृताऽतीतचतुर्विंशतिकाजिनद्विती(य) हारावलिचित्रस्तवटीका समाप्ता ॥छ॥

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३)

अथाऽनागतचतुर्विंशतिकाहारावलितृतीयचित्रस्तवं व्याचिख्यासुः प्रथमं वृत्तमाह । स्थापना-

प	द्मा दुरापा तव पद्मना	भ
द्म	तेव शब्दादिगता जिनें	द्र
ना	थोंऽगिनां भद्रकृदाप्तगीः	कृत्
भ	वेंदिराया इव साध्वहो	अ

व्याख्या : हे पद्मनाभजिनेन्द्र ! तव पद्मा-लक्ष्मीर्दुरापा-दुःप्रापा, वर्तते इत्यध्याहार्यम् । केव ?, शब्दादिगताऽद्मतेव । यथा शब्दादौ 'द्म' इति संयुक्ताक्षरं दुर्लभम् ॥ अथोत्तरार्द्धव्याख्याः- हे भद्रकृत्-चरमजिनपते ! अहो इति सम्बोधने । त्वं साधु-सम्यक् प्रकारेण अङ्गिनां-प्राणिनां नाथो भव । किंविशिष्टस्त्वं ?, आप्तगीःकृत् - आगमवाणीविधायकः । क इव ?, विष्णुरिव । यथा अः-विष्णुः इन्दिराया-लक्ष्म्याः नाथो बभूवेत्यर्थः ॥१॥ सर्वत्र पातनिका पूर्ववत् ॥ द्वितीयवृत्तमाह । स्थापना-

सू	रादिदेवाभ्युदयं जनी	नं
र	वेरिवेच्छामि तवेह ता	त
दे	शे क्व ते संगम एष भा	वी
व	रेण्यपुण्याप्तिरनंतवी	र्य

व्याख्या : हे सूरादिदेव-सूरदेव ! तात ! इहाऽस्मिन् संसारे तवाभ्युदयमिच्छामि-वाञ्छामि । किंविशिष्टं ?, जनीनं-जनेभ्यो हितं, कस्येव ? रवेरिव-सूर्यस्येव, यथा रवेरभ्युदयमिच्छामीत्यर्थः ॥ द्वितीयार्धव्याख्याः- हे अनन्तवीर्यजिन ! एष तव सङ्गमः क्व देशे भावी-भविता ?, किंविशिष्टः ? वरेण्यपुण्याप्तिः- वरेण्येन-प्रधानेन पुण्येन-सुकृतेन आप्तिः-प्राप्तिर्यस्य स तथा इत्यर्थः ॥२॥ तृतीयवृत्तस्थापना-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री	भाजि ते पादपयोजवृं	दे
सु	पार्श्व भृंगामि कदा मुदे	व
पा	र्श्वे न दोषास्तव संति वा	दे
र्श्व	पूर्वशब्दा इव देवदे	व

व्याख्या : हे सुपार्श्वजिन ! ते-तव पादपयोजवृन्देऽहं कदा मुदेव-हर्षेणेव भृङ्गामि- भृङ्गवदाचरामि ? । 'कदा कर्ह्योर्नवे' ति वर्त्तमाना । किंविशिष्टे?, श्रीभाजि- लक्ष्मीजुषि ॥ अथापरार्द्धव्याख्याः- हे देवदेव ! तव पार्श्वे दोषा न सन्ति । कस्मिन् के इवि (व)?, वादे 'श्वं'पूर्वशब्दा इव । यथा वदने 'श्वं' पूर्वाः शब्दा न भवन्तीति भावः ॥३॥ अथ चतुर्थवृत्तस्थापना-

स्व	यंप्रभ प्राभवमस्तु का	म
यं	तुस्तवोल्लंघितमोहम	ल्ल
प्र	भो पतंतं प्रबल प्रमा	दे
भ	व्यं जनं प्रोद्धर मल्लदे	व

व्याख्या : हे स्वयंप्रभ ! उल्लंघितमोहमल्ल ! तव प्राभवं-प्रभुत्वमस्तु । कथंभूतस्य तव ?, कामयन्तुः- मदनविजेतुः ॥ अथोत्तरार्द्धव्याख्याः- प्रभो-स्वामिन् ! मल्लदेव ! भव्यं जनं प्रबलप्रमादे पतन्तं प्रोद्धर- देशनादानेन निवारयेत्यर्थः ॥४॥

अथ पञ्चमवृत्तस्थापना-

स	र्वानुभूते तव भाविनी	श्री
र्वा	चंयमैरत्र न कैरना	वि
नु	न्नो नियत्या शुभयार्थपुं	ज
भू	तायते श्रीविजयस्तवा	य

व्याख्या : हे सर्वानुभूते ! तव भाविनी-भविष्यन्ती श्रीर्लक्ष्मीरत्र-संसारे कैर्वाचंयमैर्नाऽनावि- न तुष्टुवे ? ॥ अथोत्तरार्द्धव्याख्याः- श्री विजयजिन !

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

अहं शुभया नियत्या- भव्येन पुराकृतकर्मणा ते-तव स्तवाय-स्तवनाय नुन्नः- प्रेरितः । किंभूताय स्तवाय ?, [अर्थपुञ्जाय-] अर्थोत्कररूपायेत्यर्थः ॥५॥ अथ षष्ठवृत्तस्थापना-

ति	रस्कुरु त्वं कमनीयका	य
दे	व श्रुतारीनघकौशिकां	शो
व	चोविपक्षोपि यशोधरा	धः
श्रु	त्वा न कर्त्ता तव हेतुसा	रं

व्याख्या : हे देवश्रुतजिन ! हे कमनीयकाय-मनोहरशरीर ! हे अघकौशिकांशो-पापोलूकरवे ! त्वं अरीन्- शत्रून् तिरस्कुरु-विनाशयेत्यर्थः ॥ अपरार्द्धव्याख्याः- हे यशोधरजिन ! विपक्षोऽपि-वैर्यपि तव वचः श्रुत्वा नाऽधःकर्ता- न निराकर्ता । किंविशिष्टं वचः ?, हेतुसारं-दृष्टान्तैः सबलं इत्यर्थः ॥६॥ अथ सप्तमवृत्तस्थापना-

त	मस्युदेष्यत्युदयोडुप	श्रीः
उ	त्काश्चकोरा रचयंतु ला	सं
द	धाति ते संवर सूरतै	व
य	था प्रभामेधि तथा प्रका	रः

व्याख्या : उदयोडुपश्रीः उदयजिनचन्द्रश्रीः तमसि-अज्ञानरूपे उदेष्यति-उदयं यास्यति । चकोरा-दक्षा लासं रचयन्तु- हर्षं नाटयन्तु । किंविशिष्टाः ?, उत्का-उत्कण्ठिताः । विवक्षितत्वादसन्धिः ॥ अथाऽपरार्द्धव्याख्याः- हे संवरजिन ! यथा ते-तव सूरतैव प्रभां दधाति-धारयति त्वं तथाप्रकार एधि तथा प्रकारो भवेत्यर्थः ॥७॥ अथाऽष्टमवृत्तस्थापना-

श्री	रागमिश्रो भवितात्र यः	श्री
पे	ढालकैस्ते ध्वनिराप्यते	सः
ढा	क्कस्वराभं भुवि यस्य ना	मा
ल	क्ष्मीप्रयाणे स जिनः समा	धिः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या : हे पेढालजिन ! अत्र-संसारे ते-तव यः श्रीरागमिश्रो ध्वनिर्भविता, स ध्वनिः कैराप्यते ? अपि तु न कैरपीत्यर्थः ॥ अथापरार्द्धव्याख्याः यस्य जिनस्य नाम भुवि-भूमौ अलक्ष्मीप्रयाणे-अलक्ष्मीनिर्गमे ढाक्कस्वराभं, ढक्काया अयं ढाक्कः, ढाक्कश्चासौ स्वरश्च ढाक्कस्वरः, तद्वदाभा-शोभा यस्य स तथा तं, ढक्कास्वरसमानमित्यर्थ : । समाधिनामा जिनो वर्तते, इति वृत्तार्थः ॥८॥ अथ नवमवृत्तमाह-

पो	ता द्विषः पोट्टिल भांति के	चि
ट्टि	ड्डा इवार्कस्य रुचौ तवाऽ	त्र
ल	यं जना नामनि ये तवाऽ	गु:
श्री:	सेवते तानिह चित्रगु	प्त

व्याख्या : हे पोट्टिलजिन ! अत्राऽस्यां रुचौ-तव-भवतः प्रभायां केचित् द्विष- शत्रवः पोता इव-लुप्तोपमत्वाद् बाला इव भान्ति-शोभन्ते । के इव ? ट्टिड्डा इव । यथाऽर्कस्य रुचौ ट्टिड्डा भान्ति तथेत्यर्थ : ॥ अथापरार्द्धव्याख्याः चित्रगुप्तजिन ! ये तव नामनि लयमगुः-अगमन् इहाऽस्मिन् संसारे श्रीः - लक्ष्मीस्तान् सेवते-भजते इत्यर्थः ॥९॥ अथ दशमवृत्तस्थापना-

सि	तादिकीर्ते तव कीर्तना	नि
त	न्वंति लोके सुविशुद्धक	र्म
की	र्तिः परा निर्ममदेहिना	म-
र्त्ति	ध्वांतमस्यात्तव चंद्ररुक्	श्री:

व्याख्या : हे सितादिकीर्त्ते-सितकीर्ते जिन ! तव कीर्त्तनानि-नामग्रहणानि लोके-लोकमध्ये सुविशुद्धकर्म-निर्मलं कर्म तन्वन्ति-विस्तारयन्तीत्यर्थः । अथापरार्धव्याख्याः - हे निर्मम ! तव परा-प्रकृष्टा कीर्तिर्देहिनां-प्राणिनां अर्त्तिध्वान्तं-पीडातमोऽस्यात्-क्षिपेत् । किंविशिष्टा कीर्तिः ?, चन्द्ररुक्‌श्रीः-चन्द्रकान्तिवत् श्रीः - शोभा यस्यां सा चन्द्ररुक्श्रीरित्यर्थः ॥१०॥ अथैकादशवृत्तस्थापना-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री	सुव्रतस्यार्हति यः पदा	नि
सु	रद्रुमास्तस्य गृहे पुपु	ष्पुः
व्र	ते मनोवृत्तिरिहास्त्वलो	ला
त	त्त्वोदेशं दिश निःपुला	क

व्याख्या : यो जनः श्रीसुव्रतार्हतः पदानि- पादुकाः अर्हति-पूजयति तस्य गृहे-मन्दिरे सुरद्रुमाः- कल्पवृक्षा पुपुष्पुः पुष्पितवन्तः ॥ अथापरार्धव्याख्याः- हे निष्पुलाकजिन !, ममेत्यध्याहार्यम् । मम मनोवृत्तिर्व्रते-चारित्रेऽलोला-स्थिराऽस्तु-भवतु । त्वं मे तत्त्वोपदेशं दिश-अतिसर्जयेत्यर्थः ॥११॥ अथ द्वादशचित्रस्थापना-

श्री	खंडचर्च्यानि पदानि ता	नि
अ	र्हाम्यहं तेऽमम दत्तनि	ष्क
म	मास्त्वखंडा त्वयि भक्तिरे	षा
म	हामुनीनामिन निष्कषा	य

व्याख्या : हे अममजिन ! दत्तनिष्क ! दत्तं निष्कं-सुवर्णं येन स तथा, तस्यामन्त्रणं । अहं ते-तव तानि-सर्वलोकप्रसिद्धानि पदानि-पादुका अर्हामि-पूजयामि । किंविशिष्टानि ?,श्रीखण्डचर्च्यानि-चन्दनालेप्यानि । अथापरार्धव्याख्याः-हे निष्कषायजिन ! हे महामुनीनां इन-स्वामिन् ! एषा मम भक्तिस्त्वयि विषयेऽखण्डा-ऽत्रुटिता अस्तु-भवत्वित्यर्थः ॥१२॥ अथ नायकस्थाने वज्रबन्धविचित्रस्थापना-

वज्रबन्धः -

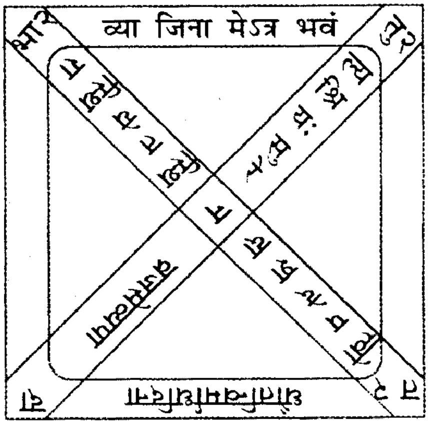

भाव्या जिना मेऽत्र भवन्तु तुल्य-श्रियः सुरेनव्रजसेव्यपादाः ।
दानादिधर्मान्वितधौततत्त्वो-पदेशदानस्थितये स्थिराभाः ॥१३॥

व्याख्या : अत्र संसारे भाव्या-भविष्यन्तो जिना मे-मम दानादिधर्मान्वितधौततत्त्वोपदेशदानस्थितये भवन्तु । दानमादिर्येषां ते दानादयः, ते च ते धर्माश्च दानादिधर्माः । तैरन्वितानि धौतानि- निर्मलानि तत्त्वानि, तेषामुपदेशाः, तेषां दानं, तस्य स्थितिः, तस्यै सन्तु । किंविशिष्टाः ? तुल्यश्रियः- समानलक्ष्मीकाः । अपरं किंविशिष्टाः ? सुरेनव्रजसेव्यपादाः-अमरस्वामिसमूहाराध्यचरणाः । अपरं किंविशिष्टाः ? स्थिराभा-निश्चलकान्तयः । इति वृत्तार्थः ॥१३॥

अथ समाप्तिवृत्तमाह-

इत्थं नायकवज्रबन्धरुचिरा सत्कण्ठभूषाकरी
येषां नाममयैः सुवर्णमणिभिर्हारावली निर्मिता ।
चारित्रप्रभदीक्षितस्तुतपदा देयासुरुच्चैर्जिना-
स्ते श्रीसूरिपदा**ज्जयादितिलक**स्यास्यापि मे मङ्गलम् ॥१४॥

व्याख्या पूर्ववत् ॥ इत्यागमिकश्रीजयतिलकसूरिकृता हारावलितृतीयचित्रस्तवटीका समाप्ता ॥ छ ॥ श्री ॥

★★★

(४)

अथ विहरमाण-शाश्वतजिनहारावलिचित्रस्तवं चतुर्थं व्याचिख्यासुः प्रथमवृत्तमाह । स्थापना-

सी	मंधरः पूर्वविदेहभू	श्री
मं	गल्यचित्रोस्तु मुदे प्रजा	सु
ध	मं दिशन् संप्रति पक्वबिं	बा
र	त्काधरोऽसौ जयतात् सुबा	हुः

व्याख्या : सीमंधरो जिनः प्रजासु-लोकेषु मुदेऽस्तु । विदेहभूश्रीम

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

ङ्गल्यचित्रः-महाविदेहभूमिलक्ष्मीमङ्गल्यतिलकः ॥ अथापरार्द्धव्याख्याः-असौ सुबाहुर्जिनः संप्रति-अधुना धर्मं दिशन् जयतात्-जयतु । किंविशिष्टः? पक्वबिम्बारक्ताधरः-पक्वबिम्बिवद् आरक्तोऽधरो यस्य स तथा ॥ इति वृत्तार्थः ॥१॥ अथ द्वितीयवृत्तस्थापना-

यु	गंधर त्वं जय वक्त्रवा	यु
गं	धेन संप्रीणितभव्यभृं	गः
ध	र्मद्विषोर्कान् ग्रसतेऽत्र बुं	बा
र	वं वितन्वन् युगबाहुरा	हुः

व्याख्या : हे युगंधर ! त्वं जय । किंविशिष्टः? वक्त्रवायुगन्धेन संप्रीणितभव्यभृङ्गः-मुखपवनपरिमलेन तृप्तीकृतभव्यभ्रमरः ॥ अथाऽपरार्द्धव्याख्याः -युगबाहुराहुः- युगबाहुरेव राहुः- सैंहिकेयो धर्मद्विषान् (द्विषः)-धर्मवैरिणः सूर्यान् अत्र-संसारे ग्रसते । किं कुर्वन् ? बुम्बारवं वितन्वन्- 'जितं जितं' इति कोलाहलं कुर्वन् । कोऽर्थः ? राहुसमानो जिनः, अर्कसमा द्वेषिणः । सबलत्वात् राहोरुपमा ॥२॥ अथ तृतीयवृत्तस्थापना-

सु	जात तीर्थंकर निर्विका	र
जा	गर्षि येषां हृदि तैरपा	वि
त	नोतु भंगं मम कर्म व	प्र
वृ	क्षावलीनां स रविप्रभे	भः

व्याख्या : हे सुजात तीर्थंकर ! हे निर्विकार! येषां हृदि त्वं जागर्षि-स्फुरसि तैरपावि-पवित्रैर्जातम् ॥ अथाऽपरार्द्धव्याख्याः- स-जगत्प्रसिद्धो रविप्रभेभः-रविप्रभनामहस्ती मम कर्मवप्रवृक्षावलीनां- कर्मतटद्रुमश्रेणीनां भङ्गं-विनाशं तनोतु-करोत्वित्यर्थः ॥३॥ चतुर्थवृत्तस्थापना-

ष	ण्णामृतूनां मम कालभा	वि
भा	वाश्रितास्त्वां वृषभानने	शा
न	वर्ण्यते कैस्तव हे विशा	ल
न	वांबुजन्यासभवा पद	श्रीः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या : हे वृषभानन ! षण्णामृतूनामीशाः- स्वामिनः त्वां श्रिताः । किंविशिष्टाः ? समकालभाविभावाः- युगपत्संपद्यमानस्वस्वपुष्पोद्गमादिभावाः ॥ अथाऽपरार्द्धव्याख्याः- हे विशालजिन ! नवाम्बुजन्यासभवा पदश्रीः- नवकमलन्यसनोत्पन्ना चरणलक्ष्मीः कैर्न वर्ण्यते ? अपि तु सर्वैरपि वर्ण्यते ॥४॥ अथ पञ्चमवृत्तस्थापना-

स्व	यंप्रभ त्वं जय दुष्टभा	व
यं	त्रोपमो मोहमहींध्रव	ज्र:
प्र	सन्नगंभीरपदाः प्रबो	ध
भ	व्या गिरो वज्रधरश्चका	र

व्याख्या : हे स्वयंप्रभजिन ! त्वं जय-नन्द । किंविशिष्टस्त्वं ? दुष्टभावयन्त्रोपमः- दुरध्यवसायन्त्रसमानः । हे मोहमहींध्रवज्र- हे मोहपर्वतपवे ! ॥ अथापराद्ध व्याख्याः-वज्रधरो जिनः प्रसन्नगम्भीरपदा गिरश्चकार । किंविशिष्टाः ? प्रबोधभव्याः- प्रकृष्टो बोधः प्रबोधः, तेन भव्या इत्यर्थः ॥५॥ अथ षष्ठवृत्तस्थापना-

अ	नंतवीर्यस्य जिनस्य वा	चं
नं	दिप्रदात्रीं ब्रुवते मुनीं	द्राः
त	वापि चंद्रानन चिन्निधा	न
ब	लस्य पारं न विदंत्यमा	न

व्याख्या : मुनीन्द्रा-गणधरा अनन्तवीर्यस्य वाचं-वाणीं नन्दिप्रदात्रीं ब्रुवते-कथयन्ति ॥ अथापरार्द्धव्याख्याः- हे चन्द्रानन ! हे चिन्निधान-ज्ञानसेवधे ! अमान-अकलनीय ! । अपिः समुच्चये । तव बलस्य पारं न विदन्ति-न जानन्ति, अनन्तवीर्यत्वादित्यर्थः ॥६॥ अथ सप्तमवृत्तस्थापना-

ल	गंति कौ यस्य पदा न या	ने
भु	जंगदेवं तमहं नमा	मि
जं	भारिसेव्यातिशयप्रदी	प्र
ग	वीह नेमिप्रभ मेऽस्तु ला	भः

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

व्याख्या : यस्य पदाः चरणाः याने-गमने कौ-पृथिव्यां न लगन्ति-न स्पृशन्ति, अहं तं भुजङ्गदेवं नमामि- नमस्करोमि ॥ अथोत्तरार्द्धव्याख्या तवेत्यध्याहार्यम् । हे नेमिप्रभजिन ! इह-अस्यां गवि-भूमौ मे-मम तव लाभः-प्राप्तिरस्तु । हे जम्भारिसेव्य ! शक्राराध्य ! हे अतिशयप्रदीप्र-चतुस्त्रिंशदतिशयदीप्तिमन् ! इति सम्बोधनपदद्वयं इत्यर्थः ॥७॥ अथाऽष्टम-वृत्तस्थापना-

वी	रासनं क्षीरविशुद्धवा	चं
रा	त्रौ दिवा च स्मर भो वितं	द्रः
स	नातनं राज्यमिहाविलं	बा
न	तो ददाति प्रभुचंद्रबा	हुः

व्याख्या : भो इत्यामन्त्रणे । हे जन ! त्वं वितन्द्रः सन्-सोद्यमः सन् रात्रौ दिवा च वीरासनं जिनं स्मर । किंविशिष्टं ? क्षीरविशुद्धवाचं-दुग्धनिर्मलवचसं ॥ अपरार्द्धव्याख्याः- प्रभुचन्द्रबाहुः-प्रभुश्चासौ चन्द्रबाहुश्च-तत्पुरुषः । इह संसारेऽविलम्बानतो-द्रुतं प्रणतः सनातनं-शास्वतं राज्यं-साम्राज्यं ददाति-वितरतीत्यर्थः ॥८॥ अथ नवमवृत्तस्थापना-

श्री	ईश्वरं तीर्थकरं नमा	म
ई	शा भवामो वयमप्यदे	हाः
श्व	संति जीवा ब्रुवति त्वयी	भ
र	वे महाभद्रजिनेंद्रचं	द्र

व्याख्या : अपिः चार्थे । वयं श्रीईश्वरं तीर्थकरं-जिनं नमामो-वन्दामहे । ततोऽदेहा-अशरीरा ईशा-ऐश्वर्यशालिनो भवामः ॥ अथापरार्द्धव्याख्याः-हे महाभद्र जिनेन्द्रचन्द्र ! त्वयि ब्रुवति सति जीवाः प्राणिनः श्वसन्ति- प्राणधारणं कुर्वन्ति- जीवन्तीत्यर्थः । किंविशिष्टे त्वयि ? इभरवे-गजवद्गम्भीरस्वरे इत्यर्थः ॥९॥ अथ दशमवृत्तस्थापना-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री	पुष्करार्धे प्रणमाम्यमं	दे
अ	हं पदे तेऽजितवीर्यदे	व
जि	नो यकान् देवयशा इया	य
त	एव रम्या जगतीह दे	शाः

व्याख्या : हे अजितवीर्य देव ! अहं श्रीपुष्करार्द्धे-पुष्करवरद्वीपार्द्धे ते-तव पदे-पादुके प्रणमामि । किंविशिष्टे ? अमन्दे-अजिह्मे ॥ अथापरार्द्ध-व्याख्याः- देवयशोजिनो यकान् देशान् इयाय- जगाम, इह जगति, विश्वे त एव देशा रम्या-रमणीया इति वृत्तार्थ : ॥१०॥ अथैकाद[श]वृत्तस्थापना-

श्री	सिद्धचैत्येष्वृषभस्य से	वा
ऋ	द्ध्या महत्या विबुधैरका	रि
ष	डर्द्धसंख्येऽत्र जगत्यशे	षे
भ	व्यानतो नन्दतु वारिषे	णः

व्याख्या : श्रीसिद्धचैत्येषु-सिद्धायतनेषु विबुधैः-देवैर्महत्या-प्रौढया ऋद्ध्या-समृद्ध्या ऋषभस्य-शाश्वतजिनस्य सेवा-पर्युपास्तिरकारि चक्रे ॥ अथापरार्द्धव्याख्याः- वारिषेणो जिनः अत्र षडर्द्धसंख्ये- षण्णामर्द्धं षडर्द्धं-त्रयः, तत्समाना संख्या यस्य तत्तथा- त्रैलोक्य इत्यर्थः । जगति-विश्वे अशेषे-समस्ते भव्यानतो(त)-आसन्नसिद्धिकैर्नतो-नमस्कृतः नन्दतु-समृद्धिं भजत्वित्यर्थः ॥११॥ अथ द्वादशवृत्तस्थापना-

चं	द्राननार्केंदुमहांसि या	व
द्रा	गोस्तु तावत्त्वयि मे पर	र्द्ध
न	मोस्तु ते शाश्वतचैत्यभू	मा
न	नाग्रपुंद्राय च वर्द्धमा	न

व्याख्या : हे चन्द्राननजिन ! यावदर्केन्दुमहांसि - सूर्यचन्द्रतेजांसि वर्तन्ते । हे परर्द्ध ! परः - प्रकृष्टः ऋद्धः परर्द्धः, तस्यामन्त्रणं हे परर्द्ध ! मे-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मम त्वयि-भवति तावत्- तावन्तं कालं रागोऽस्तु-भक्तिर्भवत्वित्यर्थः ॥ अथापरार्द्धव्याख्याः- हे वद्र्धमानजिन ! ते-तुभ्यं नमोऽस्तु । किंविशिष्टाय तुभ्यं ? शास्वतचैत्यभूमाननाग्र्यपुण्ड्राय-सिद्धायतनभूमिश्रीमुखप्रधानतिलकाय। इति वृत्तार्थः ॥१२॥

अथ नायकस्थाने बन्धुकस्वस्तिकचित्रस्थापना-

तातोपमा मानविहीनदेहा हावादिना नाकिनराबलाभिः ।

भिन्ना न येऽये स्वबलैरमेया याचे रमामादरभाविनीं तान् ॥१३॥

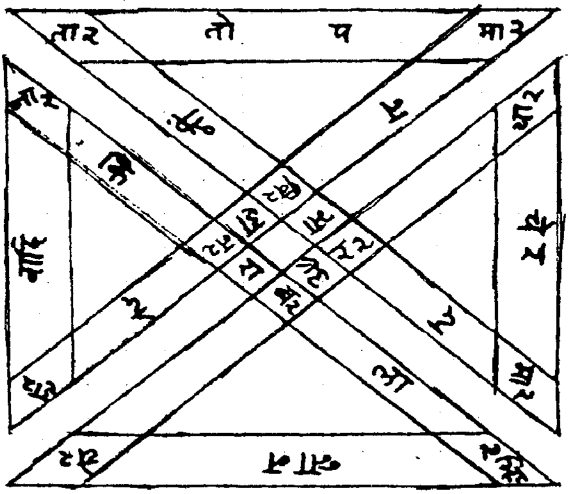

व्याख्या : ये जिना नाकिनराबलाभिः- अमर्त्यनायिकाभिर्हावा[दिना]-भावादिविकारेण न भिन्ना-न मनागपि क्लिन्नाः । किंविशिष्टाः ? तातोपमाः-पितृतुल्याः । अपरं किंविशिष्टाः ? मानविहीनदेहा-अभिमानवर्जितदेहाः । अये इत्यामन्त्रणे । अपरं किंविशिष्टाः ? स्वबलैरमेयाः - निजवीर्यैरप्रमेयाः । तान् जिनानहं रमां-लक्ष्मीं याचे-मार्गयामि । किंविशिष्टां रमां ? आदरभाविनीं-आदरेण-तपोविधानध्यानलक्षणेन भवतीत्येवंशीला आदरभाविनी तां मुक्तिलक्षणा-मित्यर्थः ॥१३॥

अथ चतुर्थचित्रस्तवसमाप्तिवृत्ति(त्त)माह-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्थं बन्धुकनायकेन रुचिरा सत्कण्ठभूषाकरी
येषां नाममयैः सुवर्णमणिभिर्हारावली निर्मिता ।
चारित्रप्रभदीक्षितस्तुतपदा देयासुरुच्चैर्जिना-
स्ते श्रीसूरिपदा**ज्जयादितिलक**स्यास्यापि मे मङ्गलम् ॥१४॥

व्याख्या पूर्ववत् ॥

इत्यागमिकश्रीजयतिलकसूरिकृता विहरमाण-शाश्वत जिन चतुर्विंशतिकाहारावलीचतुर्थचित्रस्तवटीका समाप्ता ॥छ॥ श्री ॥

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महोपाध्याय श्रीयशोविजय गणिकृत आत्मसंवादः ।

सं. विजयशीलचन्द्रसूरि

उपाध्याय श्रीयशोविजयजीनी एक अपूर्ण छतां अद्भुत रचना अहीं आपवामां आवे छे : **आत्मसंवाद.** तेमनी प्राप्य-अप्राप्य रचनाओनी अद्यावधि तैयार थएली सूचिओमां आ नाम प्रायः नथी. केमके सूचिकारोए तो, ए माटे बांधेलां धोरणोने आधीन रहीने ज निर्णय करवानो होय छे. ते धोरणोने चातरीने अटकल-अनुमाननो आधार लेवानुं तेमने माटे वर्ज्य होय छे.

आ रचना यशोविजयजीनी होवानो एक पण लिखित आधार के पुरावो प्रति थकी प्राप्त थतो नथी. प्रतिना प्रारंभे 'ऐँ नमः' नथी, के नथी प्रतिना प्रान्तभागे कर्ता के लेखकना नामनुं सूचन करती पुष्पिका. अने छतां आ रचना यशोविजयजीनी ज छे तेम कहेवा पाछळ बे मुख्य कारणो छे ते आः तेमना हस्ताक्षर अने तेमनी शैली. वर्षो पूर्वे आ प्रतिनी झेरोक्स मारा हाथमां आवी, त्यारे तेने जोतां ज ते यशो-हस्ताक्षर होवानुं मने खातरीपूर्वक लागेलुं. आजे जेम जेम ते प्रतिनी लखावट, एक एक अक्षरना मरोड वगेरे ध्यान दईने जोऊं छुं, त्यारे ते तेमना ज हस्ताक्षर होवा विशे कोई संदेह रहेतो नथी. यशो-हस्ताक्षरने ओळखनारा आपणे त्यां गण्या गांठ्या जे थोडा जणा छे, तेओ मारा आ तारण साथे संमत थशे तेवी मने श्रद्धा छे. तेमनी सवलत खातर झेरोक्स नकलनी प्रिन्ट आ साथे मूकवामां आवी छे.

प्रति, ग्रंथकारे रचवा धारेला बृहत्काय ग्रंथना खरडा (Draft) समान छे. प्रारंभ खूब सरस अन सुघड लखावटथी थयो छे. पण एकाद पानुं वह्या पछी तरत ज ग्रंथकार उतावळमां आव्या छे अने तेमनी कलम एवी तो गति पकडी ले छे के ठेर ठेर तेओ पंक्तिनी पंक्तिओ लखीने रद्द करता जाय छे. अने पाने पाने हांसियामां पाठोनां उमेरण कर्ये ज जाय छे: एटलुं ज नहि, आ त्वराने कारणे, यशोविजयजी जेवा विद्वान पुरुष माटे कल्पी न शकीए तेवी क्षतिओ पण आमां थयेली जोवा मळे छे. दा.त. दोषाणां ने बदले दोषानां, छेत्तव्ये ने बदले छेदितव्ये वगेरे. अने अक्षरो छूटी जवानुं पण वणीवार बनतुं जोवा मळे छे. 'त्' नो 'द्' थवानो होय त्यां 'त्'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज रहेतो होय तेवुं तो वारंवार छे. आनो अर्थ एटलो ज के ग्रंथकारना फलद्रूप दिमागमां युक्ति-तर्कोनो एक एवो तो भारे धसमसतो प्रवाह वहेतो हशे के तेने कागल पर अवतारवानी त्वरामां आवुं झीणुं जोवानो अेमने अवकाश ज नहि रह्यो होय; अने पछीथी सारी नकल करती वेळा आ बधुं समुं करी लेवानो तेमनो ख्याल रह्यो हशे.

शैलीनी वात लईए तो नव्यन्याय-आधारित युक्ति अने तर्कवादनी शैली यशोविजयजी महाराजे आत्मसात् करी छे, अने जैनेतर दरेक दर्शनना सिद्धांतो तथा मान्यताओनुं तेमणे ते शैलीथी खंडन के प्रतिविधान कर्युं छे. सामो पक्ष जे पण तर्क के युक्ति पेश करे, तेना ताणावाणा छूटा पाडीने तेनी तमाम बाजुओ तपासवी, ते बधी बाजुओ केवी केवी रीते खोटी के अप्रमाण छे ते. देखाडी आपवुं; पछी पोतानी युक्ति रजू करी, सामानी दृष्टिए तेना तमाम अंकोडा उघाडा पाडीने छेवटे तेनी यथार्थता साबित करी आपवी; आवी तलस्पर्शी के घेरुं ऊंडाण धरावती शैली, जेम अन्य रचनाओमां, तेम आमां पण जोई शकाय छे. नव्य न्यायनी परिभाषा अने पद्धतिथी रजूआत करनार मात्र यशोविजयजी ज थया छे तेमां तो बेमत नथी ज. जैन दर्शनना मतने रजू के स्थापित करती वेळा तेमना मनमां भगवतीसूत्र वगेरे आगमोना पाठ अने शब्द चोक्कसपणे होय छे, अने तेना तात्पर्यने सर्वप्रथम नवनवा अकाट्य तर्कोथी स्थापित करी आपीने छेक छेल्ले तेओ आगमनो पेलो पाठ एवी रीते मूके के आपणा मनमां ए पाठनो मर्म जळहळतो थई जाय, अने तेना प्रति तथा ते पाठ रचनार गणधर-श्रुतधरोना अगाध श्रुतज्ञान प्रति सहेजे दृढ आस्थाभाव वधी जाय. यशोविजयवाचकना ग्रंथो अने शैलीथी परिचित जनोने ते ज शैली आ अपूर्ण ग्रंथमां पण अवश्य जोवा मळशे. पछी तेओ पण आ रचना तेओनी होवाना अनुमान साथे सहमत थशे ज, तेनी खातरी छे.

ग्रंथनुं नाम 'आत्मसंवाद' छे; आ नाम कर्ताए पोते २३मा पत्र पर हांसियामां मोटा अक्षरे नोंध्युं छे. नाम मुजब ज आमां आत्मा विशे विस्तारथी चर्चा थई छे. सर्वप्रथम नास्तित्ववादी चार्वाक साथे चर्चा छे, जे ग्रंथनो बहु मोटो भाग रोके छे. ते पछी सांख्य वादी साथेनो विवाद छे, जे एक-बे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पानांमां ज पूरो थयो छे. छेल्ले क्षणवादी बौद्ध साथे मुठभेड छे, जे अधूरी रही छे. लागे छे के ते चर्चा हजी लांबी चाली होत, अने त्यार पछी अन्य दर्शनो-संबद्ध पण चर्चा होत. तेमणे स्वयं बे स्थळे निर्देश आप्यो छे के - "भेदाभेदस्थले एव वक्ष्यामः" अने "मोक्षसिद्धौ अभिधास्यमानत्वात्". आनो अर्थ ए के स्याद्वादानुसारी पदार्थो तथा सिद्धान्तोनुं प्रतिपादन करतां करतां भेदाभेदवाद तथा मोक्षसिद्धि पण तेओ आलेखनार हता. पण आपणा दुर्भाग्ये आ बधुं नथी बन्युं- नथी मळ्युं. २३मा पत्र पर वंचाती छेल्ली पंक्तिमां "इति चे" आटलुं छे. आमां 'चेत्' एवो शब्द पण तेमणे पूरो नथी कर्यो, 'चे' करीने ज अटकी गया छे; ते परथी तेमनी व्यस्ततानो अंदाज काढी शकाय छे, अने आ त्वरानुं कारण पण समजी शकाय छे. आ लखाण एकवार छूट्युं, ते छूट्युं; पछी तेमने फरीथी आने जोवा-सुधारवा-पूर्ण करवानो अवकाश ज नहि सांपड्यो होय ! अद्भुत !

आत्मवाद जेवो गहन के सूक्ष्म विषय अने तेनी जटिल दलीलोनी शृंखला धरावतो आ ग्रंथ होवा छतां ग्रंथकार खूब हळवाशभरी-रमूजभरी भाषानो वारंवार उपयोग करे छे, अने अध्येताना मनने बोझिल बनतुं अटकावे छे. तो हळवा मिजाजमां लखाएल आ रचनामां शृंगाररस-द्योतक वाक्यो पण एकाधिक वार अवतर्यां छे. जातिस्मरणज्ञाननी प्रमाणता सिद्ध करवा माटे बे उदाहरण तेमणे टांक्यां छे; एक कोई बाळकनुं, पूर्वजन्मनी कामक्रीडाने वर्णवतुं; बीजुं पण पाटणना बाळकनुं, दक्षिणापथना लक्ष्मीधर गाममां चतुर्मुख जिनप्रासाद होवानुं वर्णवतुं; ते पण बहु विचारोत्तेजक छे. वळी, ग्रंथकार ज आ अंगे स्पष्टता करे छे के "संवादोऽयं, न संवादाभासः, बालस्य विप्रतारणबुद्ध्याद्यभावात्". मतलब के ते युगमां पण जातिस्मरण धरावतां पात्रो विशे यशोविजयजी जेवा मेधावी साधु वाकेफ रहेतां हशे. जो आ कल्पना साची होय तो तेमनी वैज्ञानिकता परत्वे आदर उपजे.

जैन आगमोना विविध पाठोनां उद्धरण तो आमां छे ज, साथे अन्य शास्त्रोना संदर्भो पण कर्ताए अनेक स्थाने टांक्या छे. उपरांत, चार्वाक, नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध, शून्यवादी, अद्वैतवादी वगेरे मतोनो, चिन्तामणिकार, वाचस्पति, धर्मकीर्ति, सुधर्मस्वामी वगेरे ग्रंथकारोनो, तेमज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवती, विशेषावश्यक वगेरे ग्रंथोनो उल्लेख पण यथास्थाने आमां थयो छे. आ सिवाय पण, अन्ये,केचित्, अपरे, वदन्ति, आवा सांकेतिक उल्लेखो द्वारा तो तेमणे अनेक पर-दार्शनिकोनो तथा तेमना पाठ-संदर्भोनो हवालो आप्यो छे ज, जेनां रहस्य तो आवा विषयोना खास अभ्यासीओ ज खोली शके.

'स्फटिक' शब्द रत्नजाति माटे प्रसिद्ध छे. अहीं तेओ तेने माटे 'स्फुटिक' शब्द प्रयोजे छे- वारंवार. अने 'युवानी-जुवानी' माटे तेमणे शब्द वापर्यो छे- "यौवनिका".

आ ग्रंथनी हस्तप्रति अमदावादना डहेलाना उपाश्रयना भंडारमां छे, तेम झेरोक्स नकल परनी सिक्कानी छाप जोतां मानी शकाय. वर्षो पूर्वे तेनी नकल में मेळवेली, परंतु क्यांथी, कोना मारफते ते कशुं आ क्षणे याद नथी. प्रतिनो प्रारंभ "श्रीगुरुभ्यो नमः" थी थयो छे. मंगलाचरण, प्रस्तावना जेवुं कशुं ज नथी. समजी शकाय छे के एकवार रचना करी लीधा पछी तेने आखरी ओप आपवा पूर्वक अधिकृत नकल करवानी थशे त्यारे आ बधी औपचारिकता करी लेवाशे तेवुं कर्ताना मनमां होवुं जोईए. २३ पत्रनी आ प्रतिमां छठ्ठुं पानुं एक बाजुए साव कोरुं-लखाण विनानुं ज रह्युं छे, ते बाबत पण ग्रंथकारनी त्वरा तथा व्यस्तताना तेमज मनमां उभराता जोशीला प्रवाहनी गवाही आपी जाय छे. प्रारंभना बे पत्रोमां हांसिया माटे लीटीओ बे तरफ आंकेली छे, पण पछी तो वगर लीटीए ज लेखन वह्युं छे.

आ ग्रंथनी प्रतिलिपि करवानुं काम खूब धीरज अने निपुणता मागी ले तेवुं कष्टसाध्य हतुं. मुनि कल्याणकीर्तिविजयजीने ते सोंपतां तेमणे लांबे गाळे पण ते काम पार पाडी आप्युं छे. तेनुं पुनरवलोकन-संपादन वगेरे करवा पूर्वक आजे ते अत्रे प्रस्तुत करवामां आवे छे. उपाध्याय यशोविजयजीनी कृति पर काम करवानुं मळे ए. केटलुं बधु संतर्पक अने रोमहर्षक छे, ते वर्णनातीत छे.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

॥श्रीगुरुभ्योनमः॥इहखलुज्ञानक्रियाभ्यांमोक्षइतिजैनास्तन्न यतश्चार्वाकस्तावदाह। मोक्षोहिजीवस्यो
च्यतेतच्चजीवस्तुनास्त्येवघटादेरिवतस्यप्रत्यक्षेणाग्रहणात् नचाप्यनुमानंप्रमाणं विरुद्धाव्यादिदो
षात्। तत्रानुमानविरोधोयथायस्यनित्यत्वंसाध्यंघटस्यादि नित्यत्वंसाध्यमानमनित्यत्वसाधकेनपरि
णामित्वसाधकेनवानुमानेनबाध्यतेएवंसर्वत्रापि। अपिचानुमानस्यविषयः किंसामान्यंविशेषोवा
उतयंवास्यात्। नाद्यः। सं अग्निमात्रास्तिचेत्कस्यविवादप्रतिपत्त्यभावेनसिद्धसाधनात्। नचतेनसिद्धेना
पिकिंचित्प्रयोजनंपुरुषस्यप्रवृत्तिंप्रतिदेशादिविशिष्टस्यैववह्नेर्हेतुत्वात्। नद्वितीयः अत्रहिविव
क्षितदेशादिविशिष्टोवह्निरस्तीतिविशेषःसाध्यस्तत्रनयुक्तंविवक्षितदेशादिविशेषणसहितस्यव
ह्नेरन्वयाभावात् नहिपर्वतोयंवह्निमान्धूमादित्यादौविवक्षितदेशादिविशिष्टेनसाध्येनसहहेतो
रन्वयोस्तितथाविधेनवह्न्यादिनासहधूमादेर्व्याप्त्यनिश्चयात् नापितृतीयः तत्रापिहिसामान्यवान्
विशेषःसाध्यस्तत्रावविशेषपक्षोक्तदोषात्। तदुक्तं। विशेषेनुगमाभावात्। सामान्येसिद्धसाधनात्
तद्वतोनुपपन्नत्वादनुमानकथाकुतः॥ इति। नचागमःप्रमाणंतत्रबहूनांविप्रतिपत्तेः यत्कुप्रमाणंतत्र
वेदामविगानेनस्थितंयथाप्रत्यक्षं। अपिचकथंभविहाजीवापन्नत्ता। तं। पुढविकाइयाजावतसका

‘आत्मसंवाद’ - प्रथम पानुं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

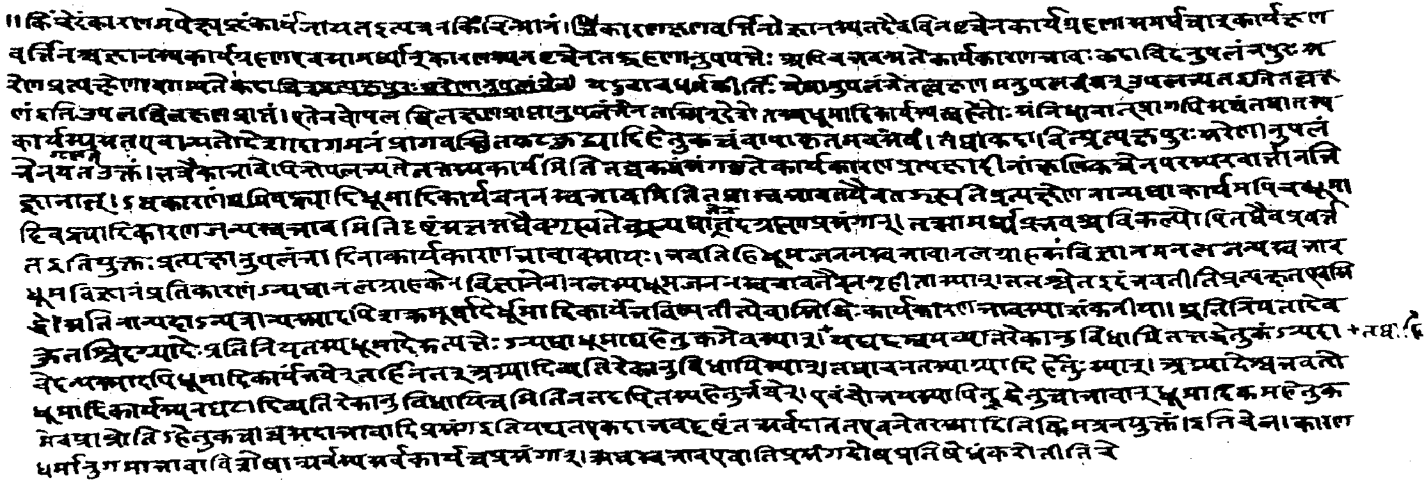

'आत्मसंवाद' - छेल्लु पानुं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मसंवादः

॥ श्रीगुरुभ्यो नमः ॥

इह खलु 'ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्ष' इति **जैनाः** । तन्न सहते **चार्वाकः**। तथा हि- मोक्षो हि जीवस्योच्यते भवद्भिः, स तु नाऽस्त्येव, घटादेरिव तस्य प्रत्यक्षेणाऽग्रहणात् । न च तदन्यदनुमानं प्रमाणं, अनुमानविरुद्धत्वादिदोषात्। तत्राऽनुमानविरोधो यथा-घटस्य नित्यत्वे साध्ये । घटस्य हि नित्यत्वं साध्यमानमनित्यत्वसाधकेन परिणामित्वसाधकेन चाऽनुमानेन बाध्यते । एवं सर्वत्राऽपि ।

अपि चाऽनुमानस्य विषयः किं सामान्यं विशेषो वा उभयं वा स्यात्। नाऽऽद्यः, अग्निमात्रास्तित्वे कस्यचिद् विप्रतिपत्त्यभावेन सिद्धसाधान् (सिद्धसाधनात्) । न च तेन सिद्धेनाऽपि किञ्चित् प्रयोजनं, पुरुषस्य प्रवृत्तिं प्रति देशादिविशिष्टस्यैव वह्नेर्हेतुत्वात् ।

न द्वितीयः, अत्र हि विवक्षितदेशादिविशिष्टो वह्निरस्तीति विशेषः साध्यः, तच्च न युक्तं विवक्षितदेशादिविशेषणसहितस्य वह्नेरन्वयाभावात्। न हि पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमादित्यादौ विवक्षितदेशादिविशिष्टेन साध्येन सह हेतोरन्वयोऽस्ति, तथाविधेन वह्न्यादिना सह धूमादेर्व्याप्त्यनिश्चयात् ।

नाऽपि तृतीयः, तत्राऽपि हि सामान्यवान् विशेषः साध्यः । तथा च विशेषपक्षोक्तदोषात् । तदुक्तं-

'विशेषेऽनुगमाभावात्, सामान्ये सिद्धसाधनात् ।
तद्वतोऽनुपपन्नत्वादनुमानकथा कुतः ? ॥ इति ।

न चाऽऽगमः प्रमाणं, तत्र बहूनां विप्रतिपत्तेः । यत्तु प्रमाणं तत् सर्वेषामविगानेन स्थितं, यथा प्रत्यक्षम् ।

अपि च कथं 'छव्विहा जीवा पन्नत्ता, तं० पुढविकाइया जाव तसकाईया' तथा 'अत्थि जीवे' इत्यादि जीवास्तित्वप्ररूपकं वचः प्रमाणम् ? पृथिव्यापस्तेजो-वायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदायेषु शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा । तथा 'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय पुनस्तान्येवाऽनुविनश्यति' इत्यादिकं च जीवप्रतिषेधपरं न प्रमाणं ?, नियामकाभावात् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तस्मात् सुदृढमिदं यन्नाऽस्ति जीवः ।

ननु यो भूतव्यतिरिक्तं जीवं प्रतिषेधति स एव जीवः, जीवादन्यस्य घटादेरिवाऽचेतनत्वेन प्रतिषेधकत्वायोगात्, इति चेत्-

न, चैतन्यविशिष्टकायस्यैव परलोकगामिजीवप्रतिषेधकत्वात्, तदन्यसत्त्वे प्रमाणाभावात् ।

यत्तु 'जीवश्चेत् परलोकगामी न भवेत् तर्हि दानादिफलस्याऽभाव एव स्यात्, ततः प्रतिपद्यतां परलोकगामी जीव इति', तत् भस्मावगुण्डितपुरुषवचनवत् प्रश्नाननुरूपत्वादसङ्गतम् । तथा हि-

केनाऽपि प्रामाणिकेन कश्चिद् भस्मावगुण्डितशरीरः पृष्टो यथा-केचिद वादिन आचक्षते-देवो नाऽस्ति, प्रमाणाभावात् । तत्र किमुत्तरम् ? स आह यदि देवो न स्यात् तर्हि धार्मिको देवार्चननिमित्तं पुष्पानयनाय कथमाराममगात् ।

न हीदं वाक्यं देवसाधकं, भ्रान्त्यैव तत्प्रवृत्त्युपपत्तेः । एवं दानादेरपि लोभ-मिथ्याज्ञानादित एव कैश्चित् प्रवर्तितत्वेन परलोकगामिजीवसाधकता दूरापास्ता ।

अथ स्मरणं ह्यनुभूतविषयं, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । स्मर्यते च केनचित् पूर्वभवसम्बद्धं जन्म । ततोऽवश्यं तदनुभूतमिति सिद्धः परलोकगामी आत्मा इति चेत् ।

न । नहि पूर्वभवसम्बद्धजातिं स्मरन् कश्चिदुपलभ्यते येनैवमुच्यमानं मनो हरति विदुषाम् । न चाऽनुपलभ्यमानोऽपि कश्चिद् भविष्यतीति स्वीकरणीयं, वन्ध्यापुत्रस्वीकारप्रसङ्गात् ।

ननु बालकस्य प्रथमत एवोत्पन्नस्य स्तनदर्शनान्तरं स्तनादानाभिलाषो जायते । स चाऽभिलाषः पूर्वविवक्षितकारणदृष्टावेव दृष्टेषु कार्येषु तत्कार्यतया च ज्ञातेषु सत्सु पुनरपि कालान्तरे विवक्षितकारणदर्शनानन्तरमुपजायमानेन स्मरणेन विवक्षितकार्यार्थितया विवक्षितकारणादानविषयो जन्यते, नाऽन्येन । न चाऽसौ बालकस्य तदानीमसिद्ध इति वाच्यं, अभिलाषादेव प्रतिनियतविवक्षित-कारणोपादानाद्यर्थे प्रवृत्त्यादिव्यवहारोपपत्तेः । यदुक्तम् -

तद्दृष्टावेव दृष्टेषु संवित्सामर्थ्यभाविनः ।
स्मरणादभिलाषेण व्यवहारः प्रवर्तते ॥इति॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ततः प्रथमत एवोत्पन्नमात्रस्य बालस्य स्तनाभिलाषदर्शनादनुमीयते देहातिरिक्तः परलोकयायी जीवोऽस्ति, येन पूर्वभवे क्षुदपनोदकारी स्तनो दृष्टः सम्प्रति स्मरणविषयीकृत इति ।

मैवम्, भूतस्वभावादेव स्तनादानाभिलाषस्योपपत्तेः । अयमेव हि भूतानां स्वभावो यत् प्रथममननुभूतमपि किञ्चित् स्वात्मन उपष्ठ(ष्ट)म्भकारकमुपाददते । न च स्वभावेऽपि पर्यनुयोगो घटते ।

'अग्निर्दहति नाऽऽकाशं कोऽत्र पर्यनुयुज्यते ॥' इति वचनात् ।

विचित्रकार्यकारितया च भूतस्वभावस्याऽपि विचित्रत्वात् ।

अनेन प्रतिनियतालब्धवित्तलाभ-लब्धवित्तापहारवैचित्र्ये नियामकं पूर्वभवार्जितमेवाऽदृष्टं स्वीकर्तव्यं, तस्वीकारे च कर्तारमन्तरेण तदनुपपत्तेस्तत्कर्तुरात्मनोऽपि पूर्वभवेऽस्तित्वमङ्गीकर्तव्यमित्यपि **निरस्तम्** । भूतानामेव तथास्वभावत्वेनाऽलब्धवित्तलाभादिवैचित्र्योपपत्तेः । उक्तं च – 'जलबुद्बुदवज्जीवा' इति । यथैव हि सरित्समुद्रादौ नियामकादृष्टं विनाऽपि स्वभावसामर्थ्याद् विचित्रा बुद्बुदाः प्रादुःष्यन्ति तथा प्राग्भवोपार्जितादृष्टमन्तरेणाऽपि अलब्धवित्तलाभादिवैचित्र्यभाजो जीवा इति । अपि चैतन्यविशिष्टकायमात्ररूपा भवन्ति इति नाऽस्ति परलोकगाम्यात्मा, तदभावाच्च नारकत्वाद्यवस्थारूपस्य परलोकस्याऽप्यभाव एव । तदुक्तम्–

'एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः' ॥ इति

एवं च परलोकार्थं तपश्चरणाद्यप्यनुष्ठानमनर्थकम् । यदाह–

'तपांसि यातनाश्चित्राः संयमो भोगवंचने'ति ॥

अत्रोच्यते– यत् तावदवादि 'आत्मा प्रत्यक्षेण नोपलभ्यते घटादिवदिति', तदयुक्तम्; अवग्रहेहापायधारणानां स्वसंवेदनप्रसिद्धत्वेनाऽऽत्मनोऽपि प्रत्यक्षत्वात् । धर्मप्रत्यक्षत्वे धर्मिणोऽपि प्रत्यक्षत्वनियमात् । नहि रूपादिप्रत्यक्षादन्यत् घटादीनां प्रत्यक्षेणोपलम्भनमस्ति, न चाऽवग्रहादीनां स्वसंवेदनप्रसिद्धत्वमसिद्धम्; विवक्षितनीलत्वलक्षणविषये नीलं विज्ञानमुत्पन्नं ममाऽऽसीदित्यादेरवग्रहादिविषयकस्मरणात् तत्सिद्धेः । न चाऽननुभूतविषयमपि स्मरणं, अतिप्रसक्तेः; अनुभवश्चैषां स्वसंवेदनेनैवेति कथं न स्वसंवेदनप्रसिद्धत्वम् ? ।

न चाऽवग्रहादिज्ञानानां स्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वेऽपि न धर्मत्वं, सततं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परतन्त्रतयोपलभ्यमानत्वेन रूपादीनामिव धर्मत्वात् । धर्माश्च न धर्मिणमन्तरेणेति य एषां धर्मी स एवाऽऽत्मा; प्रत्यक्षश्चाऽसौ, एतत्प्रत्यक्षत्वात् । अन्यथा घटादीनां प्रत्यक्षत्वे का प्रत्याशा ?। रूपादीनामेव तत्राऽपि प्रत्यक्षत्वम्; इत्यस्याऽपि सुवचत्वात् । अनुभवविरोधश्चेद् दूषणं, स किं नाऽत्र, येनात्मनः प्रत्यक्षत्वं न स्वीकुरुषे ? ।

किं च, अस्त्यहमिति ज्ञानं, न चैतत् प्रत्याख्यातुं शक्यम्, अनुभवविरोधात् । न चैतदनुमितिरूपं, व्याप्तिस्मरणादिनिरपेक्षत्वात् । किन्तु प्रत्यक्षं, स्वसंविदितरूपत्वात् स्पष्टप्रतिभासत्वाच्च । तद्विषयश्च न बाह्योऽर्थस्तस्याऽत्र प्रतिभासाभावात् । न च भूतचतुष्टयविषयमिदं ज्ञानं, अरूपादिप्रतिभासात्मकत्वात् अन्तर्मुखावभासित्वाच्च । यत् पुनर्भूतचतुष्टयविषयं तद् बहिर्मुखावभास्येव, तथा प्रतीयमानत्वात् । न चेत्थं प्रतिभासमानस्याऽप्यहंप्रत्ययस्य विषयान्तरमेव कल्पयितुं शक्यम् । सलिलादिप्रतिभासिनोऽपि ज्ञानस्य पृथिवीविषयत्वकल्पनया तद्भाव-प्रसक्तेः । तस्मादेतस्य यो विषयः स आत्मैवेति कथमुक्तम् 'आत्मनः प्रत्यक्षेण न ग्रहण'मिति ? ।

अथ यथा रूपादिविषये प्रत्यक्षमुत्पद्यमानं तत्स्वरूपमवगमयति तथा आत्मविषयेऽप्युत्पद्यमानं प्रत्यक्षमात्मस्वरूपमवगमयेत् । न च प्रत्यक्षविषये वस्तुनि विप्रतिपत्तिरतोऽप्रत्यक्ष एवाऽऽत्मेति चेत्-

न, 'इदं रूप'मित्यादिप्रत्यक्षस्य यथा रूपस्वरूपप्रकाशकत्वं तथा-'ऽयमह'मिति प्रत्यक्षस्याऽप्यस्त्येवाऽऽत्मस्वरूपप्रकाशकत्वं, शरीरगुणग्रहण-वैमुख्यतयाऽन्तर्मुखावभासित्वेन प्रवृत्तेः ।

न चैवमात्मनः सदा सन्निधानात् सदैवाऽहंप्रत्ययप्रसङ्गेन सदैवाऽऽत्मग्रहणं इति वाच्यम् । आत्मनः सदा ग्रहणस्वभावत्वानभ्युपगमात् । कर्मवशगस्य हि तस्य तत्कर्मक्षयोपशमसामर्थ्यादेव तत्र तत्र विषयग्राहकत्वेन प्रवृत्तेस्त-त्कर्मप्रतिबन्धादेव च तदैवाऽपरत्राऽप्रवृत्तेरिति न सर्वदैवाऽऽत्मग्रहणम् ।

न च प्रत्यक्षविषये वस्तुनि न विप्रतिपत्तिर्भूतेष्वपि तद्दर्शनात् । प्रकृतिविकाररूपत्वेन तेषां **सांख्यैः** स्वीकारेऽपि **वैशेषिकै**रणुद्व्यणुकादिक्रमारब्ध-कार्यरूपतया, बौद्धैश्च विज्ञानमात्ररूपतया स्वीकारात् । यदि चेयं न वस्तुतो विप्रतिपत्तिः, प्रसिद्धव्यवहारनियमात्, सर्वैरपि **सांख्यादिभिः** शौचादितत्तत्कर्मार्थे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मृदादेरेवोपादानात्, तदेतदात्मन्यपि तुल्यं; सर्वैरपि वादिभिः शरीरस्य जडत्वेन तदतिरिक्तेनैव चेतनेन दर्शनस्मरणप्रत्यभिज्ञानालोचनादिकरणात्।

नन्वहंप्रत्ययो नाऽऽत्मविषयोऽहंप्रत्ययत्वात्, स्थूलोऽहमिति प्रत्ययवदिति चेत् न; विपक्षबाधकाभावेनाऽप्रयोजकत्वात्। सहचारदर्शनमेव विपक्षबाधकमिति चेत्, न; दूरस्थमङ्गारभृतं पात्रं धूमवत्, वह्निमत्त्वादित्यस्याऽपि प्रयोजकत्वपातात्, महानसादौ धूमध्वज-धूमयोः सहचारदर्शनात्; अनुमानप्रामाण्याङ्गीकारेऽ-पसिद्धान्ताच्च ।

ननु सुहृद्भावेन पृच्छामि-स्थूलोऽहं कृशोऽहमिति योऽहंप्रत्ययः स नाऽऽत्मविषयोऽहं सुखी अहं दुःखीति प्रत्ययस्तु आत्मविषयः, इत्यत्र किं नियामकम् ? इति चेत्-

न । उभयस्याऽप्यस्याऽऽत्मविषयकत्वात्; अन्तर्मुखावभासितया प्रवृत्तत्वेन। किन्तु 'स्थूलोऽहं' इत्यादिरूपस्य भ्रमत्वम्, अस्थूल एवाऽऽत्मनि स्थूलत्वग्रहणरूपत्वात्। अतत्प्रकारे तत्प्रकारकज्ञानस्यैव भ्रमत्वात्। 'अहं सुखी' ति ज्ञानस्य तु प्रमात्वं, सुखिन्येव सुखग्रहणस्वरूपत्वात् । तद्वति तदन्याप्रकारकज्ञानस्यैव च प्रमात्वात् । नहि तस्येवाऽस्याऽपि भ्रमत्वमेव, रक्तजपाकुसुमसंसर्गाद् रक्तः स्फुटिक इति ज्ञानस्येव कठिनः स्फुटिक इत्यस्याऽपि भ्रमत्वप्रसङ्गात् ।

अथ भवति रक्तः स्फुटिक इति प्रत्ययस्य भ्रमत्वं, जपाकुसुमसंसर्गाभावे शुक्लः स्फुटिक इति बाधकज्ञानदर्शनात्। न तु कठिनः स्फुटिक इत्यस्याऽपि, द्रवत्वाधिकरणं स्फुटिक इति विपरीतप्रत्ययस्य जातुचिदप्यदर्शनात् इति चेत्।

तर्हि कुतो न भवति स्थूलोऽहमिति प्रत्ययस्य भ्रमत्वम् ? अहं सुखीति प्रत्ययस्य चाऽभ्रमत्वम् ? मोहापगमे विवेकाकलिते मनसि 'स्थूलोऽहं नाऽस्मि, किन्तु शरीरं मे स्थूलं' इति भेदप्रत्ययस्य बाधकस्याऽत्राऽपि दर्शनात्; 'नाऽहं सुखी, किन्तु शरीरं मे सुखि' इत्यस्य च कदाचिदप्यदर्शनात् ।

वस्तुतस्तु स्थूलोऽहं इत्यादिप्रत्ययस्याऽपि भेदं तिरस्कुर्वत एवोत्पद्यमानस्य भ्रमत्वं, स्थूलशरीरवानहमित्येवं शरीरोपाधिकतया जायमानस्य तु आत्मालम्बन-तयाऽपि सत्यत्वमेव । दृश्यते चाऽभेदतिरस्कारेणाऽपि तज्जायमानं, यथा स्थूलं कृशं वा मम शरीरमिति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ मदीय आत्मा इत्यत्राऽपि अभेदतिरस्कारेण भेदेन प्रतिपत्तिरस्ति। न च मच्छब्दवाच्यमात्मान्तरमपि स्वीक्रियते भवता। न चैवं प्रतिपन्नस्त्वयाऽप्यात्मा एतदात्मशब्दाभिधेय इति वाच्यं, मम शरीरं कृशमित्यादिज्ञानेषु शरीरव्यतिरिक्तमालम्बनमङ्गीकुर्वतो ममाऽऽत्मा सुखीत्यादिज्ञानेष्वपि आत्मव्यतिरिक्तालम्बनाभ्युपगमप्रसङ्गस्याऽनिष्टस्याऽऽपादनात् इति चेत्।

न। नहि ममाऽयमात्मेति ज्ञाने शरीरादिवन्मत्प्रत्ययविषयादन्य आत्मा प्रतिभाति, किन्त्वहमित्यात्मानं प्रत्यक्षतः प्रतिपद्याऽऽत्मान्तरव्यवच्छेदेन परप्रतीत्यर्थं ममाऽऽत्मेति निर्दिशति; ममाऽऽत्माऽहमेवेत्यर्थः। यदा पुनः शरीरमात्मशब्देन निर्देष्टुमिच्छति तदा ममाऽऽत्मेति भेदाभिधानमेवेदम्, आत्मोपकारकत्वेन शरीरे आत्मत्वोपचारात्, प्रियभृत्येऽत्यन्तोपकारकतयाऽहमेवाऽयमित्यादिवत्।

अथवा ममाऽऽत्मेति मत्प्रत्ययविषयात् भेदेनाऽऽत्मज्ञानं बाध्यत्वादस्तु भ्रमरूपं, शरीरभेदज्ञानं तु कथं तथा? नहि एकत्र मर्वादौ सलिलज्ञानस्य भ्रमत्वे विमलजललहरीमनोहारिणि सरस्यपि तस्य भ्रमत्वं, भ्रम-प्रमाविशेषाभावप्रसङ्गात्।

तत् सिद्धमहं-प्रत्ययस्य प्रत्यक्षतया तद्विषयस्याऽऽत्मनोऽपि प्रत्यक्षत्वम्॥ **एतेन** किं स्वरूपमात्मनः प्रत्यक्षेणाऽवगम्यते तद् वाच्यं मनागिति न किञ्चित्।

सुखादेरपि किं स्वरूपं प्रत्यक्षेणाऽवगम्यते यन्मानसप्रत्यक्षे तत् स्वीक्रियते? न ह्याख्यातुमशक्यमपि प्रत्याख्यातु शक्यं इति यदि, तदत्राऽपि तुल्यम्। अथाऽऽख्यायते एव सुखादेरानन्दादिस्वरूपं प्रसिद्धमेव रूपं प्रत्यक्षेणाऽवगम्यते इति चेत्, तर्हि तदाधारत्वमात्मनोऽपि रूपं प्रत्यक्षेणाऽवगम्यत इति कथं न जानाति भवान् येनैवं लज्जामपहाय पुनः पुनः प्रलपति। तदुक्तम्-

सुखादि चेत् समानं हि स्वतन्त्रं नाऽनुभूयते।
मतुबर्थानुवेधात् तु सिद्धं ग्रहणमात्मनः॥१॥

इदं सुखमिति ज्ञानं दृश्यते न घटादिवत्।
अहं सुखीति तु ज्ञप्तिरात्मनोऽपि प्रकाशिका॥२॥ इति।

यत् तु आत्मन्यसत्येव प्रत्यक्षग्रहणाभिमान एष आत्मवादिनां निमीलिताक्षस्य तिमिरग्रहणाभिमानवत्, तत् तुच्छम्। न हि प्रागगृहीतान्धकारस्य निमीलिताक्षस्यान्धकारग्रहणाभिमानः, जात्यन्धस्य तथाऽदर्शनात्। किन्तु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राग्गृहीतान्धकारस्य निमीलिताक्षस्य प्राग्गृहीतस्यैवाऽन्धकारस्योपस्थापनेन ।

न चैवं त्वयाऽपि प्रागात्मा गृहीतोऽस्तीति स्वीक्रियते येनाऽस्यैवोपस्थापनेनाऽहंप्रत्ययादात्मग्रहणाभिमान उच्यमानः सुन्दरतां तवाऽऽत्मनः ख्यापयेत्। यदि तु स्वीकृतस्तदा सिद्ध एवाऽऽत्मेति कृतं विवादेन ।

अत्राऽऽह - अस्तु अवग्रहादिज्ञानभेदानां धर्मतया प्रत्यक्षतया च तद्धर्मिणोऽपि प्रत्यक्षत्वम् । परं कुत एवं परलोकगाम्यात्मा प्रत्यक्षः ? भूतानामेव तद्धर्मित्वोपपत्तेः । यदुक्तं **वाचस्पति**ना-

'पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीर-विषयेन्द्रिय-संज्ञास्तेभ्यश्चैतन्यमिति । कायाकारप्राणापानपरिग्रहवद्भ्यो भूतेभ्यस्तदुत्पद्यते तेनाऽविशिष्टेभ्य इति । प्रयोगश्च-चैतन्यं कायाकारभूतेभ्यः समुत्पद्यते, तद्भाव एव भावात्, मद्याङ्गेभ्यो मदशक्तिवत् । न चोत्पद्यतां तथाविधभूतेभ्यः, परन्तु धर्मी तस्य जीव एव स्यादिति वाच्यम्; उत्पादकत्वाभिमतभूतसमुदायस्यैव धर्मितयाऽऽत्मकल्पनानवकाशात्' ॥

तन्न, चैतन्यस्य धर्मत्वे स्वीकृते आत्मास्वीकारस्य लज्जास्पदत्वात्; धर्मिणमन्तरेण धर्मस्याऽवस्थितेरभावात् । न च भूतान्येव धर्मी, आनुरूप्याभावात् । अन्यथा जल-काठिन्ययोरपि धर्म-धर्मिभावप्रसङ्गात् । न चाऽऽनुरूप्याभावोऽसिद्धः, अबोधस्वरुपस्य मूर्त्तस्य विषयापरिच्छेदकस्य पृथिव्यादिभूतस्य बोधस्वरूपं अमूर्त्तं विषयपरिच्छेदकं चैतन्यं प्रति अनुरूपित्वाभावात् । अबोधस्वरूपत्वादिकं च भूतानां सकलजगत्प्रसिद्धमेवेति नहि तदपि प्रत्याख्यातुं शक्यम् ।

तदिदमुच्यते-भूतसमुदायश्चैतन्यस्य धर्मी न, चैतन्येन सहाऽननुरूपित्वात् । यद् येन सहाऽननुरूपि तत् तस्य धर्मिभूतं न, यथा काठिन्यस्य जलम् । अननुरूपी च चैतन्येन सह भूतसमुदायस्तस्मान्न चैतन्यस्य धर्मीति । तदुक्तम्-

काठिन्याबोधरूपाणि भूतान्यध्यक्षसिद्धितः ।
चेतना च न तद्रूपा तद्धर्मः सा कथं भवेद् ॥ इति ।

किं च, न प्रत्येकं भूतानां धर्मश्चैतन्यं, घटपटादावभावात् ।

अथ तत्राऽप्यस्त्येव चैतन्यं, किन्त्वनभिव्यक्तं काष्टपिष्टादौ मदशक्तिवत् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कायाकारपरिणतभूतेभ्यः पुनरस्याऽभिव्यक्तिः, सुराकारपरिणतेभ्यस्तेभ्य इव तस्या इति चेत् । न । अविद्यमानायाश्चेतनायाः कायाकारपरिणतभूतैरभिव्यक्तेरसिद्धेः । ननूक्तमेव कायाकारात् प्रागपि भूतेषु अनभिव्यक्ता सा विद्यते इति चेद्-उक्तं, परमयुक्तम् । तत्सत्त्वे प्रमाणाभावात् । न च विना प्रमाणं किञ्चित् सिध्यति, सर्वस्य सर्वेष्टार्थसिद्धिप्रसङ्गात् ।

न च प्रत्यक्षमेव प्रमाणं, अतीन्द्रिये विषये तत्प्रवृत्तेरसिद्धेः । अनुमानं तु त्वया न स्वीक्रियत एव, अपसिद्धान्तापातात् ।

ननु सिद्धान्तरहस्यमिदमस्माकम् । सैद्धान्तिकैरुक्तं-यदलौकिकमनुमानं स्वर्गनरकादिप्रसाधकं तन्न प्रमाणम् । लौकिकं तु धूमादि प्रमाणमेव । तद्दर्शनानन्तरं समस्तेनाऽपि लोकेनाऽग्नेरनुमीयमानत्वात् - इति चेत्-

हन्तैवमपि अकायाकारभूतेषु चैतन्यानुमानमप्रमाणमेव, समस्तेनाऽपि लोकेन तत्र चेतनाया अननुमीयमानत्वेनाऽस्यालौकिकत्वात् । इत्थम्भूतस्याऽपि लौकिकत्वे स्वर्गनरकादिसाधकस्याऽपि लौकिकत्वप्रसङ्गात् ।

यत् तूक्तं-काष्टपिष्टादिषु प्रत्येकमनुपलभ्यमानाऽपि मदशक्तिः सुराकारपरिणतैस्तैरभिव्यज्यते यथा, तथा कायाकारपरिणतैर्भूतैश्चेतनाऽपीति । तदविचारितसुन्दरम् । यतो मदशक्तिर्न काष्टपिष्टादिवस्तुस्वरूपं, सुराकारपरिणाम-पूर्वदशायामपि तस्य सत्त्वेन तदभिव्यक्तिप्रसङ्गात् । न चाऽतीन्द्रियैव काचित्, तत्साधकप्रमाणाभावात् । न च भवद्भिः प्रागनुपलभ्यमानाऽपि तस्या अभिव्यक्ति-रङ्गीक्रियत एव समुदायदशायामिति वाच्यम्, काष्टपिष्टादीनां मदशक्तावभिव्यञ्ज-कत्वासिद्धेः । विद्यमानं हि वस्तु येन प्रकाश्यते तदभिव्यञ्जकं, यथाऽन्धकारदशायां घटादेः प्रदीपादि । न च मदशक्तिरपि विद्यमाना, प्रमाणाभावात् । तत् कथं काष्टपिष्टादीनां तदभिव्यञ्जकत्वं ? किन्तु तज्जनकत्वम् । तत्सामग्रीसमावेशे तदुत्पत्तेर्दर्शनात्, मृत्पिण्डादिसामग्र्यां घटवत् । तन्न तद्दृष्टान्तेन चेतनाया अभिव्यक्तिः सिद्ध्येत ।

यदपि- 'यथा नीलता प्रत्येकमनुपलभ्यमानाऽपि तन्तुसमुदाये उपलभ्यते तथा चेतनाऽपि'- इति **कश्चित्**, तत् तुच्छम् । नीलतायाः पटादिषूपलभ्यमानायाः प्रत्येकमपि तन्तुपक्ष्मादौ दर्शनात् । नह्येवं चेतनाऽपि प्रत्येकमुपलभ्यते, येनाऽयं दृष्टान्तः सम्यक् स्यात् । तदुक्तं "नीलादितुल्यताऽपि च प्रत्येकमदृष्टताऽयुक्तेति" ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किञ्च, चैतन्याभिव्यक्तिर्यदि कायाकारभूतकारणिका तर्हि मृतकायेऽपि कथं न स्यात् ? । न हि घृतसंयोगादिकारणिका कुङ्कुमादिगन्धाभिव्यक्तिर्घृत-संयोगवत्यपि कुङ्कुमादौ न भवति । तन्न तथाविधभूतानां चेतनाया अभिव्यञ्जकत्वम् ।

अपि च, आवृतस्यैवाऽभिव्यक्तिरभिव्यञ्जकसत्त्वे भवति, न च नावृतस्य, तथाऽदर्शनात् । एवं च कायाकारहेतुषु अकायाकारेषु भूतेषु चैतन्यं केनाऽऽवृतं ? इति निर्वचनीयम् ।

कायाकारपरिणामाभाव एवाऽऽवरणं इति चेत्-न, अभावस्य सकलशक्तिविकलतया आवरणादिक्रियाकारित्वायोगात् । तदकारकस्य चाऽऽवरणत्वानुपपत्तेः, अतिप्रसङ्गात् । न च भावभूतमेव किञ्चिदावरणं, भूतचतुष्टयातिरिक्तस्य भावस्य स्वीकारेऽपसिद्धान्तप्रसङ्गेन भूतचतुष्टयमध्यादन्यतरदेव तत् त्वया वाच्यं, तस्य च नावरणत्वं, व्यञ्जकत्वाङ्गीकारात् । आवरणत्वे वा न कदाचिदपि तदभिव्यज्येत, कायाकारस्य तन्निमित्तकत्वेन तस्य सर्वदा सत्त्वात् ।

किञ्चेदं चैतन्यं यदि भूतेभ्यो व्यतिरिक्तं तदा सिद्धमेवाऽस्माकमिष्टं, नाममात्रविपर्ययेणाऽऽत्मनोऽभ्युपगमात् ।

अथाऽव्यतिरिक्तं तत् तु न युक्तं, भूतनिश्चयेऽपि हर्षविषादादिरूपचैतन्य-स्याऽनिश्चयात् । नहि यस्मिन्निश्चीयमानेऽपि यन्न निश्चीयते तयोरप्यैक्यम्, अतिप्रसङ्गात् । उक्तं च- "यस्मिन्निश्चीयमानेऽपि यन्न निश्चीयते न तयोरैक्यमेव, यथोष्णत्व-कठिनत्वयोः । न निश्चीयते च शरीरे निश्चीयमानेऽपि चैतन्यं, ततो नाऽनयोरैक्यमिति" । न चाऽसिद्धिः । तथाहि- अस्ति खलु चैतन्यस्य हर्षविषादादि अनेकं रूपमनुभवसिद्धं, भूतानां काठिन्यादिवत् । तच्च शरीरे निश्चीयमानेऽपि न निश्चीयते, तत्प्रतिपक्षस्य संशयस्याऽसकृद्दर्शनात् । विरुद्धधर्मसंसर्गेऽपि यदि न भेदस्तदा पृथिव्यादीनामप्यैक्यमापद्येतेति पृथिवीप्राप्तौ जलप्राप्तिरपि स्यात् । तथा च न काचित् कामिनी कुचकुम्भभारखिन्ना कुम्भमादाय सलिलार्थं सरसीमभिव्रजेत्, इति अयत्नेनैव सर्वार्थसिद्धि स्यात्, सर्वार्थासिद्धिरेव वेति महदसमञ्जसं स्यात् ।

अथ भिन्नाभिन्नं भूतेभ्यः चैतन्यं, तन्न सङ्गतम् । भिन्नं हि यदि भूतेभ्यश्चैतन्यं तदा कथमभिन्नम् ? अथाऽभिन्नं कुतस्तर्हि भिन्नम् ? विरोधात् । कथञ्चिद्भेदाभेदपक्षे त्वविप्रतिपत्तिरेव । अस्माभिरपि शरीरस्य आत्मना सह कथञ्चिदभेदाभ्युपगमात् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवतु वा प्रत्येकं भूतेषु चैतन्यं, तथाऽपि कथं तदेकं स्यात् ? भिन्नभिन्नवस्तुधर्मत्वात्, भिन्नाभिप्रायपुरुषसमुदायचैतन्यवत् । भिन्नाभिप्रायतया तेषां 'अहं ददामि अहं करोमी' त्यादिरूपविशिष्टैकमानसिकानुभवनिबन्धनत्वेनाऽवस्थानाभावप्रसङ्गात् । यश्च भवति सकलप्राणिप्रसिद्धः प्रत्येकं सकलैरपीन्द्रियैरूपलम्भो-'रूपं पश्यामि, मधुरमास्वादयामी'त्याद्याकारः सकलशरीराधिष्ठात्रेकरूपः कालान्तरे स्मृतिजनकः सकलेन्द्रियोपलम्भः सोऽपि चैतन्यस्य नानात्वपक्षे न स्यात् ।

न ह्यत्यन्तासन्नानामपि पुंसां मिथोऽपि भिन्ने चैतन्ये एकस्मिन् रूपं पश्यति अन्यस्याऽपि 'रूपमहं पश्यामी'त्याद्याकारं ज्ञानं जायमानमुपलभ्यते, न वा तत्प्रभवं कालान्तरे स्मरणमपि । अनुभूयते चेदमुभयमपि देहे स्वसंवेदनप्रत्यक्षेणेति न प्रतिषेधोऽप्यस्य कर्तुं शक्यो, भूतानामपि प्रतिषेधापत्तेः । तस्मान्न भूतेषु प्रत्येकं चैतन्यमिति ।

न च भूतसमुदाय एव चैतन्यमस्त्विति वाच्यं, प्रत्येकमसतः समुदायेऽप्यसत्त्वात् । तत्समुदाय एव परलोकगामित्वभावात् । तस्मान्न प्रत्येकं भूतानां धर्मश्चैतन्यं, नाऽपि तत्समुदायस्य । न च धर्मोऽप्ययं धर्मिणमन्तरेणोपपद्यत इति धर्मिणा भवितव्यमवश्यम् । यश्चाऽस्य धर्मी स एवाऽऽत्मा । तत् सुष्टू(ष्ठू)क्तं-अवग्रहादिज्ञानानां प्रत्यक्षत्वेन प्रत्यक्ष एवाऽऽत्मेति । धर्माणां धर्मिणमन्तरेणाऽनुपपद्यमानतया, भूतानां तद्धर्मित्वनिरासेनाऽऽत्मन एव तद्धर्मितया प्रत्यक्षत्वस्य प्रामाणिकत्वात्, धर्मधर्मिणोः कथञ्चिदभेदात् ।

ननु वस्त्वन्तरमेव चैतन्यस्य धर्मि भवतु, न पुनरात्मेति चेद्-भ्रान्तोऽसि । यदेव वस्त्वन्तरं चैतन्यस्य धर्मिभूतं तस्यैवाऽऽत्मशब्देनाऽभिधानात्, भूतातिरिक्तचैतन्यसिद्धौ नामविवादस्य निरर्थकत्वात् ।

केचित् तु, न प्रत्येकं भूतानां धर्मश्चैतन्यं, नाऽपि तत्समुदायस्य, किन्तु स्वतन्त्रमेव धर्मि, उत्पद्यते च तद् भूतेभ्यः, **इत्याहुः** । तत् 'चत्वार्येव भूतानि तत्त्वम्' इति सिद्धान्तोक्ततत्त्वसङ्ख्यानियमव्याघातकत्वादुपेक्ष्यम् । तदुक्ततत्त्वानामुपलक्षणत्वे तु नाऽऽत्मप्रतिषेधोऽपि युक्तो, प्रामाणिकत्वात् । नामान्तरेणाऽऽत्मन एव स्वीकाराच्च । भूतेभ्यश्च यथा तन्नोत्पद्यते तथा वक्ष्यते ।

अथ **वदन्ति**- मा भवतु प्रत्येकावस्थायां भूतेषु चैतन्यं, तत्साधक-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाणाभावात् । असतश्च नाऽभिव्यक्तिर्भवतीति मा भूत् कायाकारपरिणतभूतेभ्यस्तस्याऽभिव्यक्तिः । उत्पत्तिस्तु भविष्यति, असतोऽप्युत्पत्तेः । तदुक्तं 'कायाकारप्राणापानपरिग्रहवद्भ्यो भूतेभ्यस्तदुत्पद्यते नाऽविशिष्टेभ्य' इति। न च प्रत्येकावस्थायामविद्यमानस्य समुदायावस्थायामपि भूतेभ्यश्चैतन्यस्योत्पत्तिर्न भवेत् इति वाच्यं । प्रत्येकावस्थायामविद्यमानाया अपि गुड-धातक्यादिभ्यो मदशक्तेरुत्पत्तेः । न चाऽनुपपत्तिः, दृष्टेऽनुपपत्तेरभावात् । तदुक्तम् 'न दृष्टेऽनुपपन्नते'ति । न च चैतन्यं यदि असदेवोत्पद्यते भूतेभ्यस्तदा खरविषाणमपि तत उत्पद्येत, असत्त्वाविशेषादिति वाच्यम् । भूतानां तज्जननस्वभावतया तस्यैव तेभ्य उत्पत्तेः ।

न च 'भूतानां चैतन्यजननस्वभावत्वे घटादावपि चैतन्योत्पत्तौ चेतनाचेतनव्यवहारविलो[पा]पत्तिः, न चाऽयं व्यवहारोऽभिव्यक्तानभिव्यक्तचैतन्यनिबन्धनो न तु तत्सत्त्वासत्त्वनिबन्धन इति । सत्यपि घटादौ चैतन्ये न चेतनत्वेन व्यवहारः, तच्चैतन्यस्याऽनभिव्यक्तत्वात् । यदुक्तम्- 'चैतन्यानभिव्यक्तिर्घटादिषु, कारणाभावात्, पांश्वादिषु अनभिव्यक्तमदशक्तिवत् । चैतन्याभिव्यक्तेर्हि कारणं क्षित्यादेः कायाकारपरिणतत्वं, मदशक्त्यभिव्यक्तेः पिष्टोदकगुडधातक्यादिपरिणतत्ववत् । तच्च घटादिषु नाऽस्तीति तदनभिव्यक्तिभावस्तत्र, पांश्वादौ पिष्टोदकादिपरिणामाभावान्मदशक्त्यनभिव्यक्तिभाववदिति ।' इत्यपि वक्तुं शक्यम् । घटादौ चैतन्यस्याऽनभिव्यक्तेरनुपपत्तेः ।

तथाहि- अनभिव्यक्तिः खलु आवृतस्य भवति न त्वनावृतस्य । न च तत्र चैतन्यस्य भूतव्यतिरिक्तं किञ्चिदावारकं, चत्वार्येव भूतानि तत्त्वमिति तत्त्वसंख्यानियमव्याघातापत्तेः । न च भूतानामन्यतमस्यैवाऽऽवारकत्वं, तेषां व्यञ्जकत्वेन प्रतिज्ञानात् । न च व्यञ्जकमावारकं, स्वरूपव्याघातात् । न च भूतानामेव विशिष्टपरिणामाभाव आवारकः, तस्य सकलशक्तिविकलत्वेनाऽऽवारकत्वायोगात् । नो चेत् आवरणक्रियाकरणशक्तिमत्तया कुड्यादिवत् तस्य भावत्वापत्तावपसिद्धान्तभयेन पृथिव्याद्यन्यतमत्वेनैव त्वया स्वीकरणीयतया व्यञ्जकत्वस्यैवोपपत्तेः । किञ्च, यस्य विशिष्टपरिणामस्याऽभावा (व आ) वारकः स भूतेभ्यो भिन्नो वा स्यादभिन्नो वा ? यदि भिन्नस्तर्हि 'चत्वार्येव भूतानि तत्त्व' मिति तत्त्वसङ्ख्यानियमव्याघातः, अथाऽभिन्नस्तदा तत्स्वरूपवत् तस्याऽपि सदा भावेन सर्वदाऽभिव्यक्तिप्रसङ्गः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ परिणामत्वान्नाऽसौ नित्यस्तेनाऽ[सना]तनाकारेण परिणमनस्य परिणामत्वात् न सर्वकाले भवति, सनातनत्वप्रसङ्गात्, किन्तु कदाचिदेव । यदा काले तु भवति तदा भूतेभ्योऽभिन्न एवेत्यदोष इति चेत्, न, कालानभ्युपगमे एवंभूतवाक्यप्रवृत्त्ययोगात् । लोकप्रसिद्धत्वादप्रतिक्षेपार्होऽसौ काल इति चेत्-न, आत्मन्यपि तस्य तुल्यत्वात्, पितृकर्माऽन्यथाऽनुपपत्तेः, तस्याऽपि लोकप्रसिद्धत्वात् । तदुक्तम्-

'पितृकर्मादिसिद्धेश्च, हन्त नाऽऽत्माऽप्यलौकिक' इति ।

तदेवमावारकाभावादनभिव्यक्तचैतन्यानुपपत्तौ, चेतनाचेतनव्यवहारस्य तद्-भावाभावनिबन्धनत्वेन घटादौ चैतन्याभ्युपगमे भवत्येव चेतनाचेतनव्यवहारविलोप-प्रसङ्ग इति वाच्यम् । कायाकारपरिणतभूतेभ्य एवं चैतन्योत्पत्त्यभ्युपगमेन घटादौ तत्परिणामाभावादेव चैतन्यानुत्पत्तेरुपपत्तौ चैतन्याभावाभावनिबन्धनस्य चेतनाचेतन-व्यवहारस्य विलोपानुपपत्तेः ।

न चैवं मरणावस्थायामपि चैतन्यमुत्पद्येत कारणत्वाभिमत-कायाकारपरिणतभूतानां तदानीमपि सत्त्वादिति वाच्यम् । कारणत्वाभिमतपवनस्य तत्राऽभावेन तथाविधभूतसत्त्वस्य तदानीमसिद्धेः । न च वस्त्यादिना तत्र प्रक्षिप्ते पवने चैतन्यमुत्पद्येत, समस्तकारणानां सत्त्वादिति वाच्यम्- प्राणापान-लक्षणपवनस्यैव तद्धेतुत्वापगमेन पवनमात्रात् तदुत्पत्तेरनुत्पत्तेः ।

ननु प्राणापानलक्षणपवनाभावान्मृतकाये चैतन्याभावो न तु जीवाभावादित्यत्र किं निगमकं येन वैपरीत्यं न स्यादिति चेत् । न । लाघवस्यैव विनिग[म]कत्वात् । मृतावस्थायां प्राणापानाभावस्य त्वयाऽप्यवश्यमङ्गीकृतत्वेन तत एव चैतन्याभावोपपत्तौ जीवाभावकल्पने गौरवात् । प्राणापानवत् जीवस्योभयसिद्धत्वाभावात् । न च-यद् यस्य कार्यं तत् तदनुरूपं, यथा मृत्पिण्डस्य कार्यं घटो मृत्पिण्डानुरूपः; कार्यं च यदि भूतानां चैतन्यं तर्हि भूतानुरूपं स्यात्, न चाऽस्त्येव, तथैव अमूर्त्तबोधस्वरूपस्य चैतन्यस्य मूर्त्ताबोधस्वरूपैर्भूतैरनुरूप-त्वाभावात् इति वाच्यम् । शृङ्गादपि शरस्योत्पत्तेर्दर्शनेन कार्यस्य स्वकारणानु-रूपत्वनियमाभावात् । न हि शरस्याऽपि शृङ्गानुरूपत्वं, प्रत्यक्षेण बाधात् । यदि च मूर्त्तत्वादिना रूपेण शरस्य शृङ्गानुरूपत्वमेवेति न बाधस्तर्हि सत्त्वादिना रूपेण चैतन्यस्याऽपि भूतानुरूपत्वमेवेति तुल्यम् । न च भूतानां चैतन्यादत्यन्तविलक्षणत्वात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कथं तेभ्यस्तदुत्पत्तिरिति वाच्यम् । लोके भिन्नजातीयादपि कारणाद् भिन्नजातीयस्य कार्यस्य दर्शनात् । न चाऽसिद्धिः, सूक्ष्माप्रदेशपरमाणुभ्यः स्थूलसप्रदेशघटादेस्त्वयाऽप्युत्पत्तेरङ्गीकारात् । तत् सुनिष्पन्नमेतद् यद् प्राणापानविशिष्टकायाकारभूतसमुदायाच्चैतन्यमुत्पद्यते, तदपगमे च विनश्यति । तथा च सुष्ठूक्तम् - "नाऽस्त्येव परलोकगाम्यात्मा, ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः कस्य भविष्यति ? इति व्यर्थं एव तपःप्रभृति कष्टानुष्ठानम्" इति । एवं च

द्राक्षामद्यादिकं पेयं भक्ष्यं मांसादिकं भृशम् ।
जनन्यादिस्त्रियो भोज्या रूपवत्यो यदा रुचिः ॥१॥

कायध्वंसावसाने हि चैतन्ये कस्य पातकम् ?
परलोकोऽपि कस्य स्याद् यद्भयात् तद् विवर्ज्यते ॥२॥

इत्येवंरूपानुसारेण प्रवृत्तिर्विधेया, चैतन्यस्य भूतकार्यतया परलोकगामिनो जीवस्याऽभावात् । न च भूतकार्यत्वं चैतन्यस्याऽप्रामाणिकं, चैतन्यं कायपरिणामापन्नभूतकार्यं, तद्भाव एव भावात् । यद् यद्भाव एव भवति तत् तत्कार्यं, मदशक्तेः सुरापरिणामापन्नमद्याङ्गकार्यत्ववत् । इति प्रमाणस्य सत्त्वात् ।

अत्र **वदन्ति** - चैतन्यस्य भूतकार्यत्वे किं प्रमाणम् ? न तावत् प्रत्यक्षं, अतीन्द्रियविषये तस्याऽभावात् । नहि उत्पन्नमनुत्पन्नं वा चैतन्यं भूतानां कार्यं इति व्यापारे प्रत्यक्षमुपैति, तस्य स्वयोग्यसंनिहितार्थग्रहणरूपत्वात्, चैतन्यस्य चाऽमूर्तत्वेन तदयोग्यत्वात् । न च भूतानामहं कार्यमित्येवमात्मविषयं भूतकार्यत्वं प्रत्यक्षमवगन्तुमलं, कार्यकारणभावस्याऽन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यत्वात् । व्यतिरेकनिश्चयनिबन्धनस्य चाऽनुपलम्भस्य तत्राऽभावात् । न च तदुभयातिरिक्तः कश्चिदन्वयी तदुभयान्वयव्यतिरेकज्ञाताऽभ्युपगम्यते, आत्मसिद्धिप्रसङ्गात् । नाऽप्यन्यत् प्रमाणं, तस्याऽनभ्युपगमात् । प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं, नाऽन्यदिति वचनात् । अभ्युपगमेऽपि ततो विवक्षितार्थप्रतीत्यसिद्धेः । अधिकृत-चैतन्यवस्तुनोऽतथारूपत्वात् ।

तथाहि-यदि चैतन्यं भूतसमुदायमात्रनिमित्तकं स्यात् तर्हि घटादावपि स्यात्, निमित्ताविशेषात् । कायाकारपरिणाम एव निमित्तविशेषस्तदभावादेव न चैतन्यं घटादौ । तदुक्तम्- 'कायाकारप्राणापानपरिग्रहवद्भ्यो भूतेभ्यश्चैतन्यं नाऽविशिष्टेभ्यः' इति, अतो न दोष इति चेत्, न । आत्माभाववादिमते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कायाकारपरिणामस्यैव युक्त्याऽनुपपत्तेः । कथं कायाकारपरिणामस्य मन्मते युक्त्याऽनुपपत्तिरिति चेत् । इत्थम् । भवन्मते हि कायाकारपरिणामः किं पृथिव्यादिमात्रनिबन्धन आहोस्विद् वस्त्वन्तरनिमित्त उताऽहेतुकःसङ्गीयते ? । तत्र यद्याद्यः पक्षस्तर्हि सर्वत्र कायाकारपरिणामप्रसङ्गः, पृथिव्यादिभूतसमुदायस्य सर्वत्र सत्त्वात् । तथाविधसाम्यादिभावसहकारिकारणवैकल्यान्न सर्वत्र तत्परिणाम प्रसङ्ग इति चेत् । ननु सोऽपि साम्यादिभावो न वस्त्वन्तरनिमित्तः, तत्त्वसंख्याव्याघातप्रसङ्गात्, किन्तु पृथिव्यादिभूतमात्रनिमित्तकस्तथा च तस्याऽपि सर्वत्राऽविशेषेण भावप्रसङ्गात् कुतः सहकारिकारणवैकल्यमिति ? ।

अथ द्वितीयः पक्षस्तदप्ययुक्तं, तथाऽभ्युपगमे सत्यात्मसिद्धिप्रसङ्गात् । तथाभूतवस्त्वन्तरयोगादेव हि विशिष्टकायाकारपरिणामभाव उपपद्यते नाऽन्यतस्तथा च सति न कश्चिद् दोष इति ।

अथ तृतीयः पक्षस्तदा सदाऽभावादिप्रसङ्गः ।

"नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणाद्" इति न्यायात् ।

तन्न त्वन्मते कायाकारपरिणामो घटते । तदभावे तु दूरोत्सारितमेव प्राणापानपरिग्रहवत्त्वं भूतानामिति साधूक्तं न तथाविधभूतेभ्यश्चैतन्यमुत्पद्यते इत्यत्र किञ्चित् प्रमाणम् ।

किञ्च, प्रत्येकावस्थायामविद्यमानस्य चैतन्यस्य समुदितावस्थामां भूतेभ्यः कथमुत्पत्तिर्घटते ? एकान्तेनाऽसत उत्पादस्याऽभावात्, भावे वा खरविषाणमपि तेभ्य उत्पद्येत, असत्त्वाविशेषात् । न च-भूतानां तज्जननस्वभावतया तस्यैवोत्पत्तिर्न खरविषाणस्याऽपि तज्जननास्वभावत्वात्-इत्यपि वाच्यम् । तेषां तज्जननस्वभावत्वकल्पनाया अयोगात् । अनुत्पन्नं हि चैतन्यं खरविषाणतुल्यमित्यवन्ध्यभावतोऽविशेषेणाऽसज्जननस्वभावत्वमेव परमार्थतो भूतानां भवेदिति तेभ्यश्चैतन्यस्येव खरविषाणस्याऽप्युत्पत्तिप्रसङ्गात् । न च-प्रत्येकावस्थायामविद्यमानाऽपि समुदितावस्थायां मद्याङ्गेभ्यो मदशक्तिरुपपद्यमाना दृष्टा न पुनः खरविषाणं, कारणशक्तिनियमात्; तद्वदत्राऽपि स्यादिति वाच्यम् । मदशक्तेः प्रत्येकावस्थायामेकान्तेनाऽविद्यमानत्वासिद्धेः । मदशक्तित्वेन तदानीमविद्यमानत्वेऽपि रूपान्तरेण विद्यमानाया एवोपपत्तेः । अत एव समुदितावस्थायां मद्याङ्गेषु ये गुणास्त्रस्यादय (भ्रम्यादय?)स्ते प्रत्येकावस्थायासपि गुडधातक्यादिषु सामान्यत उपलभ्यन्त इति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्यक्षसिद्धं चैतन्नहि भवताऽप्यपह्नोतुं शक्यम् । यस्तु प्रत्यक्षसिद्धमप्यर्थमपहनुते तस्य तु **शून्यवादिमत** एव प्रवेशो युक्त इति कथं त्वयि **चार्वाकता** चिरस्थायिनी स्यात् ?

न ह्येवं समुदितावस्थायां ये गुणास्ते प्रत्येकावस्थायां भूतेषु सामान्यतोऽप्युपलभ्यन्त इति कथं समुदितावस्थायामपि तेभ्यश्चैतन्यस्योत्पत्तिः स्यात्। नहि प्रत्येकावस्थायां सर्वथाऽविद्यमाना स्निग्धता समुदितावस्थायां सिकताकणेषु केनाऽप्यनुभूयते । न चैतद्दोषभयेन प्रत्येकावस्थायामपि किञ्चिच्चैतन्यस्वरूपं स्वीक्रियत एवेति वाच्यम् । एकेन्द्रियजीवसिद्धिप्रसङ्गेनाऽपसिद्धान्तापातात्, चेतनाचेतनव्यवहारविलोपापत्तेश्च ।

न चाऽनभिव्यक्तं यत्र चैतन्यं तत्राऽचेतनव्यवहारोऽन्यत्र तु अपर इति वाच्यम् । अनभिव्यक्तचैतन्यस्य त्वयैव तिरस्कारात्, अपलापे प्रतिज्ञासंन्यासनिग्रहापातात्, प्रमाणाभावेन तन्निरासस्य सुकरत्वाच्च ।

किञ्च, कायाकारपरिणतभूतेभ्यो यद्यसत एव चैतन्यस्योत्पत्तिः, कथं तर्हि मृतकायादपि तस्योत्पत्तिर्न स्यात् ? ननूक्तमेवैतत् प्राक् यत् प्राणापानलक्षणपवनाभावात् तत्र चैतन्यं नोत्पद्यत इति, इति चेत् । ननु प्रत्युक्तमपीदं तदैव यज्जीवाभावादेवेति किं न स्यादिति अहो अहो विस्मरणशीलत्वमाचार्यस्य यदुक्तमपि लाघवं विनिगमकतया न स्मरति, भव्यलाघवमेव तवेत्थं वदतो जानामि ।

उभयसिद्धोऽपि प्राणापाना[भा]वो जीवाभावमन्तरेणोपपद्यते यतः । कथमेवमभिधीयत इति चेत्, शृणु सावधानमनाः । नहि मृतकाये प्राणापानाभावो निर्हेतुकः, सदाऽभावप्रसङ्गात् । नाऽपि कायाकारनिमित्तकः, जीवदवस्थायामपि तस्य सत्त्वेन तदभावप्रसङ्गात् । नाऽपि कायाकारध्वंसनिमित्तः तस्य तदानीमसत्त्वात्। न चाऽऽन्तरपुद्गलापगमनिमित्तो, निमित्तमन्तरेणाऽऽन्तरपुद्गलापगमस्याऽप्यसम्भवात् । न च कालविशेष एव निमित्तं, अतीन्द्रियकालाङ्गीकारे आत्मानङ्गीकारस्य स्वकदाग्रहमात्रफलत्वात् । तस्मिन्नपि काले क्वचिच्छरीरे प्राणापानाभावस्याऽदर्शनात् । नहि यद् यस्य कारणान्तरनिरपेक्षं अजनकं तत् तन्नोत्पादयति, अकारणत्वप्रसङ्गात् । किन्तु अनन्यगत्या जीवाभावनिमित्तक एव तत्र प्राणापानाभावो भवताऽप्यवश्यं स्वीकरणीय इति कुतः प्राणापाना-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावस्यैवोभयसिद्धता, येन लाघवात् प्राणापानाभावादेव मृतशरीरे चैतन्याभावो न तु जीवाभावादिति प्रोच्येत ! 'तद्धेतोरेवाऽस्तु किं तेने'ति न्यायेन प्राणापानाभावनिमित्तकजीवाभावादेव तत्र चैतन्याभावस्य स्वीकरणीयत्वाच्च, अन्यथा गौरवप्रसङ्गात् ।

एतेन-'प्राणापानवज्जीवस्योभयसिद्धत्वं नाऽस्ति-इति परास्तं । जीवमन्तरेण प्राणापानलक्षणपवनस्याऽहेतुकत्वापत्तौ सदाभावादिप्रसङ्गात् । कायाकारस्यैव प्राणापाननिमित्तकत्वे मृतकायेऽपि तदुत्पत्तिः, पुनरुज्जीवनापातात् । अत एव सुप्तप्रबुद्धस्य दृश्यते तावच्चैतन्यं, न च तत् तदन्यचैतन्यपूर्वकं, सुषुप्तावस्थायां चैतन्यस्याऽभावात् । उपलभ्यस्य सतस्तदानीमनुपलम्भात् । तथाऽपि चेत्तत्कल्पना तर्ह्यतिप्रसङ्गः । न चाऽहेतुकं तत्, सदाऽभावादिप्रसङ्गात् । 'सदा सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात्' इति वचनात् । नाऽप्यन्यनिमित्तं, तस्याऽप्रतीयमानत्वात् । किन्तु कायनिमित्तमिती'ति **कस्यचिन्मत**मपास्तम् । चैतन्यस्य कायनिमित्तत्वे मृतावस्थायामपि उज्जीवनप्रसङ्गात् ।

न चैवं सुप्तप्रबुद्धचैतन्यस्य निर्हेतुकत्वे पूर्वोक्तदोषापत्तिरिति वाच्यम् । अस्य सुषुप्तावस्थाभाविचैतन्यपूर्वकत्वेन निर्हेतुकत्वाभावात् । न च सुषुप्तावस्थायां तन्नाऽस्त्येव, स्वसंवेदनमात्रस्याऽव्यक्तस्य तदानीमप्यनुभूयमानत्वात् । अविगानेन तथा लोकप्रसिद्धेः । प्रतिपत्तव्यं च नियमात् सुषुप्तावस्थायां चैतन्यमस्तीति, स्मरणान्यथानुपपत्तेः । तथाहि-स्वप्नादिसुषुप्तावस्थाभाविस्वप्नादिचैतन्यविषयं स्मरणमविगानेनाऽनुभूयते । न चाऽननुभूतस्य स्मरणमुपपद्यतेऽतिप्रसङ्गात् । न च कायान्वयहेतुकतैवाऽस्य, तथाऽप्रतीतेः । तत्स्वरूपसंस्पर्शिस्मृत्यनु(न)नु भूतेः, तथाऽपि चेदेवं कल्पना तर्हि कुतो नाऽतिप्रसङ्गः ? । न च तथास्वभावत्व-सामर्थ्यात् कायादेव तस्मरणमिति वाच्यम् । तस्य तथास्वभावसिद्धौ मानाभावात् । तद् युक्तमिदं यदनुभूतसुषुप्तावस्थाभाविचैतन्यविशेषनिबन्धनं तत्स्मरणमिति सिद्धं सुषुप्तावस्थायामपि चैतन्यमपि(पी)ति कुतः सुप्तप्रबुद्धचैतन्यस्य कायनिमित्तकता स्यात् ? ।

किञ्च न व्यस्तकायस्य चैतन्यं प्रति हेतुत्वमभ्युपगम्यते भवता, शिरश्छेदेऽपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्, किन्तु समस्तकायस्य । तच्चाऽयुक्तं, अङ्गुल्यादि-छेदेऽपि चैतन्यस्योत्पत्तिदर्शनात् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपि च, यद्यपि चैतन्यं प्राणापानकायाकारपरिणतभूतेभ्य उत्पद्यते तथाऽपि सहकारिकारणभूतेभ्य एव । तथा चाऽस्योपादानकारणं किञ्चिद् वाच्यं, निरुपादानस्योत्पत्तेरयोगात् । उपादानं च यदि तथाविधभूतसमुदायव्यतिरिक्तं किञ्चिद् वस्तु तदा प्रागुक्तस्य 'चैतन्यं तथाविधभूतसमुदायमात्रादुत्पद्यते, तद्भाव एव भावादि'त्यस्य चैतन्ये भूतकार्यताप्रसाधकस्य प्रमाणस्य स्फुटमसिद्धत्वम्, तथाविधभूतसमुदायभावेऽपि तद्व्यतिरिक्तोपादानाभावे चैतन्यस्याऽभावात् । अथाऽसिद्धिपरिहारार्थं तथाविधभूतसमुदायस्यैव चैतन्यं प्रत्युपादानत्वमङ्गीकुरुषे तर्हि चैतन्यस्य भूतानुरूपता प्रसज्येत, कार्यस्य स्वोपादानकारणानुरूपत्वनियमात् । अन्यथा, कार्यकारणभावव्यवस्थानुपपत्तेः । न चेष्टापत्तिः, मूर्त्यादिविरहितयाऽनुभूयमानस्य चैतन्यस्य मूर्त्यादिमता तथाविधभूतसमुदायेन सहाऽनुरूपत्वाभावात् ।

अथ प्रागेवोक्तं यत्-कार्यं स्वोपादनकारणानुरूपं इति नियमो नास्त्येव, शृङ्गादपि शरस्योत्पत्तेः । न हि शरोऽपि शृङ्गानुरूप इति । तदयुक्तं, शरतया परिणममानस्य शृङ्गैकदेशस्य भूतसमुदायत्वेनाऽनुभूयमानतया भूतसमुदायरूपेण शृङ्गेण सहाऽनुरूपत्वस्यैव सत्त्वात् । न हि चैतन्यमपि भूतसमुदायत्वेनाऽनुभूयते, मूर्त्यादिविरहात् । अथ मूर्त्यादिविरहितमपि चैतन्यं तथाविधभूतसमुदायोपादानकमस्तु, बाधकाभावात् इति चेत्, न; तथा सति कार्यस्य कारणधर्माननुगमेन कारणादत्यन्तभेदेऽत्यन्तासत एव तस्योत्पत्तिरभ्युपगता स्यात् । अस्त्वेवमिति चेत्, असत्त्वाविशेषात् पञ्चमभूतस्याऽप्युत्पत्तिरभ्युपगन्तव्या स्यात् । एवमप्यस्तु इति चेत्, असदुपादानकत्वेन कूर्मरोमभ्यो जायमानाया इव रज्जोरसत्त्वमेव तस्य स्यात् । असत्त्वमप्यस्तु इति चेत्, न, स्वसंवेदनप्रत्यक्षेणाऽनुभूयमानस्य चैतन्यस्य प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात्, शक्यत्वे वा भूतानामपि प्रतिषेधप्राप्तौ **शून्यवाद**स्यैवाऽसमञ्जसत्वापातात् ।

न च शून्यतैवाऽस्तु तत्त्वं, प्रतिज्ञाभङ्गप्रसङ्गात् । **चार्वाक**मतध्वंसवत् तन्मतस्याऽपि **जैनै**र्ध्वंसयितुं शक्यत्वात् । तन्नाऽस्त्येव बाधकाभाव इति कथं मूर्त्यादिविरहेऽपि चैतन्यं तथाविधभूतोपादानकं स्यात् ? ।

अथ भूतकार्यत्वेऽपि यथा घटपटादीनां वैचित्र्यं स्वभावकृतं दृष्टं तथा चैतन्यस्याऽपि अन्यकार्येभ्योऽत्यन्तवैलक्षण्यं स्वभावकृतं स्यात् तदा को दोषः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्यादिति चेत्, न, भूतकार्यत्वे चैतन्यस्याऽमूर्त्यादेरनुपपत्तेः। तथाविधस्वभावकल्पने कोशपानादन्यस्य प्रमाणाभावात्। न हि घटादीनामपि वैचित्र्यमेकान्तेन स्वभावकृतं, कार्यकारणभावविलोपापत्तेः। किन्तु कारणवैचित्र्यकृतम्। अत एव नीलतन्तुभ्यो नील एव पट उत्पद्यते, न शुक्लः, उपादानकारणीभूततन्तुसमुदाये शौक्ल्याभावात्। शुक्लतन्तुभ्यः पुनः शुक्ल एव, न तु नीलः, उपादानकारणीभूतन्तुसमुदाये नैल्याऽभावात्। तदुभयमपि मूर्त्ते तु भवत्येव, उभयोपादाने मूर्त्तत्वस्य सत्त्वात्।

तदेवं यदि चैतन्यं भूतोपादानकं स्यात् तर्हि भूतानां मूर्तत्वेन जडत्वेन विषयापरिच्छेदकत्वेन चैतन्यमपि मूर्त्तं जडं विषयापरिच्छेदकं स्यात्। न चैवम्। तस्मान्न भवत्येव चैतन्यं भूतोपादानकम्।

न च निरुपादानमपि किञ्चिद् वरिवर्त्ति। अतो य एतस्योपादानं स आत्मा, तत्तद्द्रव्यक्षेत्रादिसामग्रीसापेक्षेणाऽऽत्मनैव तस्य तस्य चैतन्यपरिणामस्य जन्यमानत्वात्॥

स्यादेतत्-भूतसमुदायोपादानकमपि चैतन्यममूर्त्तं भवतु, मूर्तोपादानकस्य मूर्त्तत्वमेवेत्यत्र मानाभावात्। न च-प्रत्यक्षमेव मानं मूर्त्तकपालादिजन्यानां घटादीनां मूर्त्तत्वस्यैव विलोकनादिति वाच्यम्। घटादीनां तथात्वेऽपि सर्वत्र तन्नियमस्याऽसिद्धेः। मूर्त्तघटाद्युपादानकस्याऽपि रूपादेरमूर्त्तत्वाभ्युपगमात्। रूपादिविशेषो हि मूर्त्तिरभिधीयते। न हि सा रूपादावपि, रूपादौ रूपादेरनङ्गीकारात्। न चैकान्तेनाऽसतश्चैतन्यस्य कथमुत्पत्तिः स्याद्? अन्यथा खरविषाणस्याऽपि सा न कथं स्याद्?इत्यपि मुग्धविप्रतारकं वचनं वाच्यम्। सामग्र्यधीना ह्युत्पत्तिर्वस्तुनः इति खरविषाणं सामग्र्या अभावान्न भवति, चैतन्यं तु भविष्यति, सामग्र्याः सत्त्वात्। दृश्यते च दण्डादिसामग्रीसद्भावेऽसन्नेव घट उत्पद्यमानो, न पुनः पटः; दण्डादेः पटसामग्रीत्वाभावात्, पर्यायेण व्यभिचाराच्च। तस्य त्वयाऽप्येकान्तेनाऽसत एवोत्पत्त्यभ्युपगमात्।

तन्न। मूर्त्तघटाद्युपादानकस्य रूपादेरेकान्तेनाऽमूर्त्तत्वाभावात्, उपादेयस्य उपादानात् कथञ्चिदभिन्नत्वेन तन्मूर्त्ततया कथञ्चित् तस्याऽपि मूर्तत्वात्। नहि घटादेरुपादानादुपादेयत्वाभिमतं रूपादि एकान्तेन भिन्नं, पवनस्येव घटादेर्नीरूपत्वप्रसङ्गात् पवनस्याऽपि वा घटादेरिव रूपवत्त्वापत्तेः। भिन्नं हि तद्रूपं घटादेरेव, न पुनः पवनस्येत्यत्र किं नियामकं स्यात्?, उभयत्राऽऽपत्तेरविशेषात्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नीरूपाच्च घटाद् यदि तदुत्पत्तिस्तर्हि पवनादपि किं न स्यात् ?, उभयत्र विशेषाभावात् । न च भेदेऽपि समवायो नियामकः इति वाच्यम् । तस्य त्वयाऽनङ्गीकारात् । अङ्गीकृत एवाऽयं **नैयायिकै**रित्यस्माभिरप्यङ्गीक्रियते । न हि ते न न्यायविद इति चेत्, न, तन्निरासोऽपि नाऽस्माकं दुष्करः, परं तदर्थमिह न यतिष्यामहे, सिसाधयिषाविषयस्याऽऽत्मलक्षणार्थस्याऽयत्नेनैव सिद्धेः । **नैयायिका**नां न्यायवित्त्वमङ्गीकुर्वता भवता आत्मनोऽभ्युपगतत्वात् । तस्मान्नैकान्तेन रूपादि स्वोपादानाद् भिन्नं किन्त्वभिन्नमपीति सिद्धं मूर्तोपादानकस्य रूपादेरपि मूर्तत्वं कथञ्चित् ।

अथ भूतकार्यत्वेऽपि रूपादेर्यथा कथञ्चिन्मूर्तत्वं तथा चैतन्यस्याऽप्यस्तु इति चेत् । नूनं उदारान्तःकरणोऽसि यदालोच्याऽपि स्वसिद्धान्तहानिं न व्यथसे । **स्याद्वादं** वदन्तो हि **जैना** एव सदसि राजन्ते, न पुनर्भवादृशा एकान्तवादकदाग्रहग्रस्ताः । एवमपि भूतसमुदायाच्चैतन्यस्योत्पत्तेरभावात् । न हि रूपमिव प्रत्येकं भूतेषु सत् चैतन्यं, येन तत्समुदायाच्चैतन्यमुत्पद्येत, नीलतन्तुसमुदायान्नीलरूपमिव । न चाऽसदप्युत्पद्यते सामग्र्याः सद्भावादित्यपि वाच्यम् । असत्त्वाविशेषात् सा चैतन्यस्येव खरविषाणस्यैव सामग्री कुतो न स्यात् ? । अवध्यभावेनाऽनुत्पन्नस्य चैतन्यस्य खरविषाणतुल्यत्वात् । न च-दृष्ट एव दण्डादिसामग्र्या असन्नेव घट उत्पद्यमानो न पुनः पटः, कारणशक्तिनियमादित्यपि प्रागुक्तं किं न स्मर्यत ? इत्यपि वाच्यम् । तदानीमपि घटस्यैकान्तेनाऽसत्त्वाभावात्, घटपर्यायेण तदानीमविद्यमानस्याऽपि मृत्पिण्डरूपेण विद्यमानत्वात् । न हि मृत्पिण्डादेकान्तेन घटस्य भेदो, येन तदानीं न स्यात् । दण्डादिसामग्रीसमावेशेन घटाकारेण परिणममानस्य मृत्पिण्डस्यैव घटशब्देनाऽभिधानात् । न हि पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकारस्वीकारादेव वस्तुन भेदः, पितृपुत्रव्यवहारविलोपप्रसङ्गात् । जन्मकालीनपरिणामापन्नभूतसमुदायाद् यौवनकालीनकायपरिणामापन्नभूत-समुदायस्यैकान्तभिन्नत्वेन जन्मकालेऽसत्त्वात् ।

यदि यौवनकालीन एव भूतसमुदायो जन्मकाले परिणामा-न्तरेणाऽऽसीदेवेति न तस्य जन्मकालेऽसत्त्वं, तर्हि घटपरिणामापन्नं भूतकार्यं मृत्पिण्डरूपेण पूर्वमासीदेवेति कथमेकान्तेनाऽसत्त्वम् ? ।

तदप्रामाणिकमेवोक्तं यद् दृष्टस्तावद् दण्डादिसामग्र्याऽसन्नेव घट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पद्यमान इत्यादि । पटस्तु नोत्पद्यते पटसामग्र्या अभावात्,- तत् तु सत्यमेव, परं यत्राऽप्युत्पद्यते तत्राऽपि कथञ्चित् सन्नेव, न तु सर्वथाऽसन्नित्यादि स्वयमूह्यम्। एकान्तेनाऽसत उत्पत्तेरेव विरोधात् । न च-पर्यायेण व्यभिचार-इत्यपि वाच्यम्। द्रव्यस्यैवाऽनेकशक्तिसमन्विततयाऽस्य तथा भवनेन तस्य सर्वथाऽसत्त्वासिद्धेः ।

मृत्पिण्डादेर्हि द्रव्यस्य तथारूपेण भवनाभावे घटादिलक्षणपर्याय-स्याऽदलत्वेनाऽभवनमेव प्रसज्येत । ततो द्रव्यस्य मृत्पिण्डादेरन्यथाभवनमात्रं घटादिपर्यायस्योत्पत्तिरिति न दोषः । न च वाच्यं-यद्द्रव्यस्याऽन्यथाभवनमात्रं तेन व्यभिचारस्तस्याऽसत एवोत्पादादिति। तस्याऽपि कथञ्चिद् द्रव्येन सहाऽभेदतः सर्वथाऽसत्त्वासिद्धेः । प्रभूतं चाऽत्रं वक्तव्यं, तद् **भेदाभेदस्थापनास्थल** एव **वक्ष्याम** इति प्ररूप्यते प्रकृतम् ।

तत् सिद्धमिदं यत् सर्वथाऽविद्यमानं चैतन्यं भूतसमुदायान्नोत्पद्यत एव। दृश्यते चोत्पद्यमानमित्यस्योपादानेन भाव्यं, यत् तत्तत्सामग्रीसमावेशात् तत्तच्चैतन्यपरिणामेन परिणमति । न च भूतसमुदय एवोपादानं, एतस्य जडत्वेन घटादेरिव चैतन्यपर्यायेण परिणमनायोगात्। इति यदेवाऽस्योपादानं स एवाऽऽत्मा, यद्विरहान्मृतशरीरे चैतन्याभाव इति । तदसिद्धिराक्षस्या भक्षितं तद्भाव एव भावादित्यादिकं प्रमाणं कथं स्वसाध्यं साधयेत् ? भूतसमुदायसद्भावेऽपि तदतिरिक्तस्य चैतन्यानुरूपोपादानस्याऽभावे चैतन्यस्याऽभावात् । न च प्राणापानयोरेवोपादानत्वं, तयोरुष्णस्पर्शवत्त्वेन मूर्त्तिमत्तया तदुपादानस्य चैतन्यस्याऽपि मूर्त्तत्वापातात्। किञ्च यद् यस्योपादानं तन्महत्त्वे तदुपादेयस्याऽपि महत्त्वं, तदल्पत्वे च तदुपादेयस्याऽप्यल्पत्वं, यथा घटस्य मृत्पिण्डः । भवति हि मृत्पिण्डस्य महत्त्वे घटस्याऽपि महत्त्वं, तदल्पत्वे च तस्याऽप्यल्पत्वम्। एवं च यदि प्राणापानलक्षणा पवनः चैतन्यस्योपादानं स्यात् तर्हि तद्बहुत्वे चैतन्यमपि बहु स्यात् । न चैवं, मरणावस्थायां वैपरीत्यात् । न च तदल्पत्वे चैतन्यस्याऽल्पत्वमपि, योगिषु प्राणापानयोः सर्वथाऽल्पत्वेऽपि चैतन्यस्य बहुत्वात्।

अनयैव युक्त्या कायोपादानकत्वमपि निरस्यम् ॥

या पुनः बालकादेः शरीरवृद्धो चैतन्यवृद्धिः, सा शरीरस्य चैतन्यं प्रति संसारिदशायां सहकारिकारणतया उदकवृद्धौ अङ्कुरवृद्धिवत्, न पुनरुपादानतया; तथात्वे नियमेन चैतन्यस्य तद्वृद्ध्यनुविधायित्वापत्तेः। न चेष्टापत्तिः,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योजनसहस्रप्रमाणशरीराणामपि मत्स्यादीनामल्पतरबुद्धित्वात्, तनुशरीराणामपि केषाञ्चित् **श्रीवज्रस्वाम्या**दीनामिव सातिशयप्रज्ञाबलशालित्वात् ।

अन्ये तु - पूर्वाकारपरित्यागाजहद्वृत्तोत्तराकारोपादानमप्युपादानलक्षणं तनोश्चैतन्यं प्रति नाऽस्त्येव, उ[पा]दानत्वाभिमतशरीरे प्राक्तनाकारपरित्यागाभावेऽपि प्रादुर्भवन्नानाप्रकारप्रकर्षरूपचैतन्यविकारोपलम्भादिति न चैतन्यं प्रत्युपादानभावोऽपि वपुषः सूपपाद इति । न चाऽनुपादानात् कस्यचित् कार्यस्योत्पत्तिरुपलब्धचरी, शब्दविद्युदादीनामप्युपादानत्वे तत्त्वचतुष्टयानन्तर्भावापत्तेः । देहाधिकस्योपादानस्य चाऽभ्युपगमे निःप्रत्यूहा जीवसिद्धिः, कायसहकृतादात्म-रूपोपादानात् तथाविध-चैतन्यपर्यायोत्पादप्रसिद्धेः, दण्डादिसहकृता-न्मृत्पिण्डरूपोपादानाद् घटादिपर्यायो-त्पादप्रसिद्धिवत् **इत्याहुः** ।

अथाऽगम्भीरादपि मृत्पिण्डादुत्पद्यते गम्भीर एव घटस्तथाऽबोधरूपादपि तथाविधभूतसमुदायादुत्पद्यतां बोधरूपं चैतन्यं; कार्यस्य सर्वथा स्वोपादानानुरूपत्वं नाऽस्त्येव, घट एव व्यभिचारात् । किन्तु कथञ्चित् स्वोपादानाननुरूपत्वमपि । इष्यते च यदि कथञ्चित् स्वोपादानानुरूपत्वमपि । अन्यथा कार्यस्य सर्वथा कारणधर्माननुगमेन कारणादत्यन्तभेदेऽसत एवोत्पत्तिरभ्युपगन्तव्या स्यात् । सा च न युक्ता, अतिप्रसङ्गात् । दृश्यते च पृथिवीत्वादिना घटेऽपि मृत्पिण्डानुरूपत्वमेवेति मन्यसे, तर्हि सत्त्व-पदार्थत्वा-दिना चैतन्यस्याऽपि तादृशभूतसमुदायानुरूपत्वमेवेति तुल्यम् । उक्तं चैतत् प्रागेवेति ब्रूषे तदप्यमनोरमम्, इह नाम कार्यं केनचिद् रूपेण कारणानुरूपं केनचिच्च कारणाननुरूपं च रूपं इति सर्वसिद्धं, घटादौ तथा दर्शनात् । परं तेनैव रूपेणाऽऽनुरूप्यं अनानुरूप्यं च मार्गणीयं यद्रूपं कार्यकारणभावनियामकं भवेत् । न च सत्त्वं चैतन्यस्य भूतकार्यत्वे नियामकं, तस्य सर्वभावसाधारणत्वाद्, अन्यथा भावानामभावत्वप्रसङ्गात् । न च सकलसाधारणो धर्मः कार्यकारणभावनियामकः, मूर्त्तत्वस्य घटपटादीनां पार्थिवकार्यत्वे नियामकत्वापातात् । न चैवमेव, जलपरमाण्वादिजन्ये जलसमुदाये पार्थिवकार्यत्वप्रसङ्गात् । पार्थिवकार्यत्वे नियामकत्वेनाऽभिमतस्य मूर्त्तत्वस्य तत्राऽपि सत्त्वात् । किं तर्हि घटपटादीनां कार्यत्वे नियामकं इति चेत् ? पृथिवीत्वमित्यवैहि । तस्याऽबादिषु असत्त्वेन सर्वसाधारणत्वाभावात् । यदि च पृथिवीत्वेनेव घटपटादीनां पार्थिवपरमाण्वादिकार्यत्वे चैतन्यस्याऽपि भूतकार्यत्वे

पृथिवी-त्वादिनाऽऽनुरूप्यमिष्यते तर्हि घटादिष्विव जीवद्देवदत्तशरीरेऽपि चैतन्य-स्याऽभाव एव भवेत्, पृथिव्यादित्वस्य काठिन्याबोधादिस्वभावाविनाभावित्वात्।

ननु न पार्थिवपरमाण्वादिजन्यं चैतन्यं येन पार्थिवत्वाद्यनुगमेन घटादाविव जीवद्देवदत्तशरीरेऽपि तस्याऽभावः स्यात्, किन्तु प्राणापानादिजन्यं इति चेत्। न। तस्य प्रागेव निरस्तत्वात्। मूर्त्तात् प्राणापानादमूर्त्तस्य चैतन्यस्याऽनुत्पत्तेः, अत्यन्तवैलक्षण्यात्। यत् तूक्तं- अत्यन्तवैलक्षण्येऽपि कार्यकारणभावो भवत्येव, सूक्ष्माप्रदेशपरमाणुभ्यः स्थूलसप्रदेशघटादेर्दर्शनादिति। तदवारिपात एव रमणीयं; प्रासादशिखरस्थसौवर्णाभासान्तस्ताम्राकृतिकलशवत्। तेषां तस्मादत्यन्तवै-लक्षण्याभावात्। नहि ते सूक्ष्मा अपि सन्तोऽमूर्त्ताः, रूपादिस्वरूपात्मकत्वात्। अप्रदेशास्तु न भवन्त्येव, सतः क्वचिदवस्थानसम्भवेन दिग्भागभेदोपपत्तौ नियमतः कथञ्चित् सप्रदेशत्वात्। न चैवं परमाणोः परमाणुत्वं विरुध्येत, तस्य तदन्याल्पतराभावनिबन्धनत्वात्। ततश्चैवं भूतेभ्यः परमाणुभ्यः स्थूलसप्रदेश-घटादिकार्यमुत्पद्यत एव, कारणधर्मानुगमेन तस्य तदनुरूपत्वात्। न च द्रवत्व-चलत्व-काठिन्यादयो भूतधर्माश्चैतन्येऽपि सन्ति येन तद्भूतोपादानकं स्यादिति यत्किञ्चिदेतत्।

किञ्च, यदि चैतन्यं कायाकारपरिणतभूतोपादानं तर्हि निपुणतर-शेमुषीककृते कायाकारभूतसमुदाये कथं नोत्पद्यते ? न हि मृत्पिण्डोपादानो घटो निपुणतरशेमुषीककृते मृत्पिण्डे नोत्पद्यते। अथ नोत्पद्यते एव सः, यथा तत्र चक्राद्यभावे; तथा स्त्रीकुक्षिलक्षणस्वकारणीभूतस्थानाभावादिदमपि नोत्पत्स्यते इति चेत्। तत् किं खञ्जरीट-यूकामत्कुणेषु चैतन्याभाव इति वक्तुमध्यवसितोऽसि ? कारणत्वाभिमतस्य युवतिकुक्षिलक्षणस्थानस्य तत्राऽजातत्वेन सर्वलोकप्रसिद्धेः। न चैवमेव पुरुषेष्वपि, चैतन्याभावप्राप्तेः। अथ तथाविधपरिणामाभावात् तत्र चैतन्याभाव इति चेत्। जीवाभावादेवेति किं नाऽङ्गीकुरुषे ? न हि तत्र प्रमाणम्।

यत् तु समुदितेभ्योऽपि मद्याङ्गेभ्यः क्वचित् तथाविधपरिपाकाभावाद यथा न मदशक्तिस्तथा कुशलपुरुषकृतादपि कायाकारभूतसमुदायात् क्वचिन्न चैतन्यमिति तत् कथं ? कुशलत्वविशेषणोपादानेनैव तदाशङ्कानिरासात्। न च कुशलपुरुषकृतात् तथाविधभूतसमुदायादुत्पद्यत एव चैतन्यं, परमेश्वरीकृत स्वशरीरमलपुरुषस्य विनायकत्वेन श्रवणादिति वाच्यम्। तस्य त्वयाऽनङ्गीकारात्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मृतात् कालिकमृतशरीरे चैतन्योत्पादप्रसङ्गाच्च । प्राणादेरपि कायाकारनिमित्तकत्वेन भवताऽभ्युपगतत्वात् तस्य तदानीमपि सत्त्वेन जीवाभावमन्तरेण तदभावानुपपत्तेश्च। तेजोभावादेव तदभाव इति चेद्, उपनीते तस्मिन् तत् कुतो न भवेत् ? ।

ननु गाढतरतमःसमूहाच्छादितसदने दीपलक्षणस्य तेजस एव सद्भावाद् यदि प्रकाशो भवति तर्ह्यङ्गारावस्थस्य तस्य सद्भावात् कुतो न भवति ? तेजोविशेषस्यैव तत्र हेतुत्वमिति यदि मन्यसे तदत्राऽपि तुल्यम् । इति चेत् । न, विशेषकमन्तरेण विशेषस्याऽनुपपत्तेः । 'विशेषणं विना यस्मान्न तुल्यानां विशिष्टते'ति वचनात् । न हि विशेषकोऽपि त्वया तदतिरिक्तः कश्चिदभ्युपगम्यते, मया प्रदीप इव प्रत्यक्षसिद्धो ज्वालादिर्यथा, तत्त्वसङ्ख्यानियमव्याघातापातात् ।

अस्तु स्वभावकृतं वैशिष्ट्यं, न हि स्वभावेऽपि पर्यनुयोग इति चेत्। न। स्व एव स्वभावः पर्यनुयोगानर्हो यदा प्रमाणसिद्धः, यथा वह्नौ दाहकत्वस्वभावः । अन्यथा सर्वोऽपि वादी तत्र तत्र पर्याकुलितचेताः 'स्वभावादित्थमेवेदं न पुनरन्यथा' – इत्युत्तरं विधाय राजसदसि तव जयपताक (?) एव स्यात् । न चाऽत्र किञ्चित् प्रमाणं यत् स्वभावकृतमेव तद्वैशिष्ट्यं, न पुनरात्मकृतमिति । न चाऽपश्यन्त आत्मानं विप्रलभेम ।

किञ्चैवं तस्य तेजसोऽभावे किञ्चिदपि चैतन्यमुपलभ्येत, गुड-धातक्यादीनामेकतरस्याऽभावेऽपि तदितरसमुदायेऽल्पतरमदशक्तिवत् । न हि तस्यैव त्वया चैतन्यं प्रत्युपादानकारणता स्वीक्रियते येन तदितरसाकल्येऽपि तदभावात् तदभाव एव स्यात्, मृत्पिण्डेतरसकलसद्भावेऽपि मृत्पिण्डाभावे घटाभाववत् । तथाऽभ्युपगमे वा प्रागुक्तदोषस्य दुरुद्धरतैव स्यादिति न तेजोभावादेव मृतशरीरे चैतन्याभाव इति । किं तर्हि ? चैतन्योपादानाभावादेवेति गृहाण ।

ननु मृतशरीरे चैतन्यं नोत्पद्यते वातादिदोषवैगुण्यादिति चेत् । तन्न चारु । मृतस्य दोषानां(णां) समीभावेन देहस्याऽऽरोग्यलाभात् । तथा चोक्तं-

'तेषां समत्वमारोग्यं क्षयवृद्धी विपर्ययः' । इति ।

ततश्च पुनरुज्जीवनापातात् । अथ समीकरणं दोषानां(णां) कुतो ज्ञायते इति चेत् ज्वरादिविकारादर्शनादित्यवैहि ।

अथ निवर्त्तन्तां दोषाः, न हि तत्कृतं वैगुण्यमपि निवर्तते, व्याप्तेरभावात्; काष्ठादावग्निनिवृत्तावपि तत्कृतश्यामिकाया अनिवृत्तेः, इति चेत् । न। व्याप्तेरभावेऽपि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुवर्णे इव अग्निनिवृत्तौ द्रवतानिवृत्तिवत् वातादिविकारस्य तन्निवृत्तौ निवृत्तेरेवोपपत्तेः। अन्यथा चिकित्साशास्त्रस्य वैयर्थ्यमेव प्रसज्येताऽतो महतोऽपि दौर्बल्यादिविकारस्येव मरणविकारस्य युक्तैव निवृत्तिः ।

अथ चिकित्साप्रयोगादपि दौर्बल्यादिनिवृत्त्युपलब्धेरपनेयविकारत्वं, असाध्यव्याधेरूपलब्धेरनपनेयविकारत्वं चेत्युभयथा दर्शनान्मरणानिवृत्तिः । तदसत् । यत् औषधालाभादायुःक्षयाद् वा कश्चिदसाध्यो विकारो भवति, दोषे तु केवले विकारकारिणि नाऽस्त्यसाध्यता । तथा हि- तेनैव व्याधिना कश्चिन्म्रियते कश्चिन्नेति नेदं दोषे केवले विकारकारिणि घटते, तस्मात् कर्माधिपत्यमेव सुसूत्रम् । न चैतत् परलोकादागतमात्मानं विनेति ।

स्यादेतत् । कायजमेव चैतन्यं, कायविकारे तद्विकारोपलम्भात् । न चाऽसिद्धिर्जरादौ तथा दर्शनात्, इति चेत् । न । यद् यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत् तद्धेतुकं । न च कायविकारान्वयव्यतिरेकानुविधायि चैतन्यं, कायविकाराभावेऽपि अप्रीत्यस्वास्थ्यादिभावाच्चैतन्यविकारोपलब्धेः । यदि पुनः कायविकारनिमित्तक एव चैतन्यविकारः स्यात् तर्हि अन्यतो न भवेत्, तन्निमित्तकस्य तमन्तरेण सकृदपि भवनविरोधात्; अन्यथा निर्हेतुकत्वप्रसङ्गात् । न च- यत्राऽप्यप्रीत्यादिभावस्तत्र देहविकार आवश्यको, जरादौ तथा दर्शनादिति-वाच्यम् । देहविकाराभावेऽपि तथाविधसङ्कल्पवशतोऽप्रीत्यादिभावस्य प्रतिप्राणि स्वसंवेदनप्रत्यक्षेणाऽनुभवात् ।

वस्तुत(तो) यद्विकारस्य द्वि(वि)कारस्तत् तस्य कार्यमिति व्याप्तिरेव नाऽस्ति । पुत्रशरीरविकारे मातृशरीरविकारोपलम्भेन मातृशरीरस्य पुत्रशरीरकार्यत्वप्रसङ्गात् । सिंहोऽयं, सन्मुखमागच्छति वा, इति वाक्यश्रवणादेव केषाञ्चिच्चैतन्यविकारोपलब्धेस्तच्चैतन्यस्य तद्वाक्यश्रवणनिमित्तकत्वापाताच्च । तत्तत्कायजं चैतन्यं, कायसद्भावेऽपि तदतिरिक्तमुपादानं विना तस्याऽभावात् । यच्चाऽस्योपादानं स आत्मा, अत एव न कायाभावेऽभावोऽप्यस्य, सिद्धेषु तथोपलब्धेः ।

न च सिद्धसिद्धौ न मानं, **मोक्षसिद्धौ अभिधास्यमानत्वात्** । ननु न हि सर्वेषां वादिनां मते मोक्षः सिद्धोऽस्ति, येन मोक्षदशायां कायाभावेऽपि चैतन्यभावः स्यादिति चेत् । तत् किं सर्ववादिनां मते चैतन्यस्य भूतकार्यता सिद्धा येनैवं वदन्न लज्जसे ? । ततश्च कायसद्भावेऽपि तदतिरिक्तोपादानं विना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चैतन्यस्याऽभावात् कायाभावेऽपि सिद्धिदशायां तदुपादानसत्त्वे चैतन्यस्य भावात् असिद्ध एव चैतन्यं कायादुपपद्यते, तद्भाव एव भावान्मद्याङ्गभावे मदशक्तिविदिति हेतुरिति सुष्ठूक्तं चैतन्यस्य तथाविधभूतकार्यत्वे न किञ्चित् प्रमाणमिति ।

किञ्च योऽयं मदशक्तिदृष्टान्तस्त्वयोच्यते तत्र किञ्चिच्चर्च्यते । तथाहि, मदशक्तिर्हि किं मद्याङ्गसमुदायरूपे मद्ये उत मद्यभाजने उत तत्पानकर्तरि भवता स्वीक्रियते ? नाऽऽद्यः, तथात्वे मद्यस्याऽपि कदाचिन्मादनप्रसङ्गात् । अत एव न द्वितीयः । तृतीये तु दृष्टान्तस्य साधनविकलतैव, मदशक्तेः पानकर्तृसापेक्षत्वेन यथाकारपरिणतकेवलमद्याङ्गसमुदायादनुत्पत्तेः ।

अथ यथा कुम्भादिगताऽपि देवदत्तसम्बन्धिनी उत्क्षेपादिशक्तिर्देवदत्तस्यैव न तु कुम्भादेः, तथा पानकगताऽपि मद्यसम्बन्धिनी मद्यशक्तिर्मद्यस्यैव, न तु पानकस्येति कथं दृष्टान्तस्य साधनविकलत्वं इति चेद् । एतावताऽपि स्वोपादानादन्यत्रैव मदशक्तिः स्वकार्यं करोतीत्यायातम् । तथा चेष्टसिद्धिरेवास्माकम्, एतद्दृष्टान्तबलेनैव चेतनाया अपि स्वोपादानत्वाभिमतभूतसमुदायादन्यत्रैव स्वकार्यजनकत्वसिद्धेः ।

कथमेतावताऽभीष्टसिद्धिरिति चेत्- । अहो ! बुद्धितैक्ष्ण्यं । भूतसमुदाया-दन्यस्यैवाऽऽत्मत्वात् ।

हा बुद्धितैक्ष्ण्यं ! न हि पानको मद्यांगसमुदायादतिरिक्तो येनाऽत्र भूतसमुदायादतिरिक्तः कश्चित् सिद्ध्येत्, किन्तु तदन्तर्गत एव । तथा च यथा स्वनिमित्त एव मदशक्तिः स्वकार्यं जनयति, तथा चेतनाऽपीति कथमतिरिक्त-स्यैवाऽसिद्धौ आत्मा सिध्येत् ? ।

हन्त ! तथाऽपि सा मदशक्तिः स्वाश्रयान्मद्याद् भिन्न एव गता सती स्वकार्यं करोति तथा चेतनाऽपि स्वाश्रयात् कायाकारभूतसमुदायाद् भिन्न एव गता सती स्वकार्यं साधयिष्यतीति कथं नाऽऽत्मसिद्धिः?स्वाश्रयाद भिन्नस्यैवाऽऽत्मत्वात् । न च मदशक्तिः स्वाश्रयाद् भिन्न एव कार्यं करोति, चेतना तु स्वाश्रय एव, स्वभावस्यैव युक्तित्वादिति वाच्यम् । स्वभावस्य विवादास्पदत्वेनाऽयुक्तिताया एव युक्तेः । वस्तुतस्तु मद्ये मदशक्तिर्नाऽस्त्येव, तथा सति तस्याऽपि कदाचिन्मादनप्रसङ्गात् । किन्तु तत्सम्बन्धात् पानकस्यैव । तथा तथाविधभूतसमुदाये नाऽस्त्येव चेतना, किन्तु तत्संयोगात् तदन्यस्यैवाऽऽत्मन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इति तत्त्वम् ।

यदपि च देवदत्तसम्बन्धिन्यपि उत्क्षेपणादिशक्तिः कुम्भाद्युत्क्षेपणादिगता दृश्यत इत्युक्तं तदप्यसमीचीनम् । तत्राऽपि हि देवदत्तहस्तादिसम्बन्धविशेषभावतः कुम्भादेरेवोत्क्षेणादिपरिणामशक्तिरुत्पद्यते । यतस्तस्योत्क्षेपणादिपरिणामो भवति । न च सा शक्तिरन्यत्र सङ्क्रामति । देवदत्तस्याऽपि स्वपरिणामविशेषवशात् सा शक्तिरूपपादि या कुम्भादेरुत्क्षेपणादिशक्तिमुत्पादयितुमुत्सहते । न च साऽप्यन्यत्र सङ्क्रामति । येन च यस्य यत्परिणामशक्तिराधीयते तेन तस्य स परिणामः कु(कृ?)त इत्युच्यते; तेन देवदत्तेन कुम्भादिरुत्क्षिप्यते-इत्यादिको लौकिकोऽपि व्यवहार उपपद्यते, यथा मद्येन माद्यत इति । तन्न शक्तेरन्यत्र कथञ्चनाऽपि सङ्क्रमः । सोऽपि चेदभ्युपगम्यते तर्हि प्रतीतिबाधाप्रसङ्गः । न च शक्तेरन्यत्र सङ्क्रमे किञ्चित् प्रमाणमिति न मद्ये मदशक्तिरुत्पद्यते, किन्तु मद्यसंयोगतो जीव एव; दधिसंयोगतो निद्रादिशक्तिवत् । तथा च मदशक्तिदृष्टान्तस्य साधनविकलतैव, केवलमद्याङ्गसमुदयभावे मदशक्तेरभावात् । एवं न भूतधर्मता तत्कार्यता वा चैतन्यस्य । ततश्च पारिशेष्याद् यस्याऽयं धर्मः स आत्मेति प्रतिपत्तव्यम् । तदुक्तम्-

अचेतनानि भूतानि न तद्धर्मो न तत्फलम् ।
चेतनाऽस्ति च यस्येयं स एवाऽऽत्मेति चाऽपरे ॥ इति ।

अथ भूतकार्यत्वसाधकं मानं यथा नाऽस्ति तथा तत्प्रतिषेधकं किमपि नाऽस्ति । न च साधकाभाव एव बाधको, वैपरीत्यस्याऽपि सुवचत्वात् इति चेत् । न । जीवच्छरीरं चेतनाशून्यं, भूतफलत्वात्, घटवत्-इति बाधकप्रमाणस्य सत्त्वात् । न चाऽप्रयोजकत्वं, जीवद्देवदत्तशरीरं यदि चेतनाशून्यं न स्यात् तर्हि चेतनावत् स्यात्, यदि च चेतनावत् स्यात् तर्हि भूतकार्यं न स्यात् । कार्यस्य स्वोपादानकारणधर्मानुगमसम्भवव्याप्तत्वेन सचेतनस्याऽचेतनभूतकार्यत्वविरोधात्; -इति विपक्षबाधकसद्भावेनाऽप्रयोजकत्वस्याऽभावात् । यदि कार्यं स्वोपादान-कारणधर्मानुयायि स्यात् तर्हि रक्ततन्तुकारणकः पटो रक्तो न स्यात् । न चैतद् दृष्टमिष्टं वा, प्रत्यक्षबाधात् । भवति च जीवद्देवदत्तशरीरं भूतकार्यं, तस्माच्चेतनाशून्यं, भूतानामचेतनत्वेन प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । न च-दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वं, तत्राऽप्यनभिव्यक्तचैतन्यस्वीकारादिति वाच्यम् । उक्तयुक्तेस्तत्राऽनभिव्यक्तेरेवा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऽनुपपत्तेः । किञ्च विनाऽपि प्रमाणं यदि तत् तत्र स्वीक्रियते तर्हि सर्वं सर्वत्राऽनभिव्यक्तमस्तीति अतिप्रसङ्ग एव स्यात् । न च प्रमाणमपि तत्र त्वया वक्तुं शक्यम्, अतीन्द्रियेऽर्थे ऐन्द्रियकप्रत्यक्षस्य अविषयित्वात् । अतीन्द्रियस्य च तस्याऽनुमानादेरिव प्रमाणत्वाभावात् । न च कायाकारेणाऽपरिणतत्वमुपाधिर्मृतशरीरे साध्याव्यापकत्वात् । कायाकारपरिणामस्याऽपि भूतसमुदायमात्रनिबन्धनत्वेन जीवनमन्तरेण तदभावस्याऽप्यनुपपत्तेश्च । भूतानामविशेषेण घटादावपि तदभाव-प्रसक्तेश्च । न च विशेषको जीवः स्वीक्रियते, विवादपर्यवसानात् ।

अथ यथा भूतानां विचित्रस्वभावतया घट-पटादीनां भूतकार्यत्वाविशेषेऽपि प्रतिव्यक्ति संस्थानविशेषो भिन्नस्तथा चैतन्यमपि इति चेत् । न । कारणसंस्थानभेदेन तत्र कार्यसंस्थानभेदोपपत्तेः । प्रलम्बपटकारणीभूतेषु तन्तुषु विषमगत्या प्रलम्बत्व-स्योपलम्भात् । न च शरीरकारणत्वाभिमतभूतेषु सामान्येन विषमगत्याऽपि चैतन्यमुपलभ्यते, तत्कथमत्रैव स्यान्नाऽन्यत्र ? विनिगमकाभावेन सर्वत्र भावाभावप्रसङ्गात् ।

अपि च, भूतकार्यमपि जीवद्देवदत्तशरीरं चेतनाशून्यं नेत्यत्र किं मानम् ? । न तावत् प्रत्यक्षं, तस्य सन्निहित-सद्भूत-योग्यार्थविषयत्वेन प्रतिषेधप्रवृत्त्ययोगात् । नाऽप्यनुमानं, तथाभूतानुमानाभावात् । भूतकार्यत्वस्य चेतनाशून्यत्वेन व्याप्तेस्तदभावे भूतकार्यत्वभङ्गप्रसङ्गात् । अथाऽस्तु तथाविधाकारोऽनुमानं इति चेत् । न । तस्य चैतन्यं प्रति कारणत्वाभ्युपगमात् । न च कारणमवश्यं कार्यवद् भवति, प्रतिबन्धवैकल्यसम्भवात् । तदुक्तम्- "नाऽवश्यं कारणानि तद्वन्ति भवन्ती"ति । तत्कथं तदनुमानम् ? । नाऽपि सामग्री अनुमानं, जीवसिद्धिप्रसङ्गात्, जीवमन्तरेण तथाविधसामग्र्या एवाऽसिद्धेः ।

ननु भोः कोविदकुलशिरोमणे ! जे(जी)वद्देवदत्तशरीरस्य चैतन्यशून्यत्व-सिद्धावपि कथमात्मा सिद्ध्यति ? । परिशेषादिति चेत्, न, अप्रसिद्धे धर्मिणि परिशेषस्याऽयुक्तेः । न हि सामुद्रादिके चतुर्विधे नदीपूरेऽप्रसिद्धे तद्गतद्रुतभरणत्वादिषु धर्मेष्वप्रसिद्धेषु तद्दर्शनेन परिशेषानुमानं प्रवर्तते । न चाऽऽत्मनः प्रसिद्धिरस्ति इति चेत् । न ।

न ह्यात्मनो धर्मश्चैतन्यं-इति साधनाय यतामहे येन त्वदुक्तं दूषणं स्यात् । किन्तु अविगानेन प्रतिप्राणि स्वसंवेदनप्रमाणसिद्धं हि चैतन्यं नाऽपह्नोतुं शक्यं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मादिस्वरूपं च तत् । न च धर्मो धर्मिणमन्तरेणोपपद्यत इत्यस्य धर्मी सिद्ध्यति । यश्चाऽस्य धर्मी स न भूतसमुदायः, आनुरूप्याभावात् । किन्तु तदतिरिक्त एव, परिशेषात् । यश्चाऽतिरिक्तः स एवाऽऽत्मेति सिद्धमेतद् यत् स्वानुरूपान्वयिनिमित्तं चैतन्यमिति स्वानुरूपान्वयिनिमित्ताभावे कार्यकारणविभागनियमानुपपत्तेः । प्रयोगश्च- चैतन्यं स्वानुरूपान्वयिनिमित्तं, कार्यत्वात्-घटवत् । नहि अत्यन्तासत उत्पादो घटते, अतिप्रसङ्गात्, किन्तु सत एव । तथा च कार्यत्वं हेतोस्तथाभावित्वेन व्याप्यते । तदुक्तं "न तथाभाविनं हेतुमन्तरेणोपजायत" इति । स्वानुरूपान्वयिनिमित्तानङ्गीकारे चाऽसत उत्पादाभ्युपगमप्रसङ्गः । ततो विपक्षाव्यापकविरुद्धोपलब्ध्या व्यावर्तमानं कार्यत्वं स्वानुरूपान्वयिनिमित्तत्वेन व्याप्यत इति प्रतिबन्धसिद्धिः ।

स्यादेतत्, अमूर्त्तस्वानुरूपान्वयिनिमित्तत्वं पक्षे विवक्षितं, घटादौ च कार्यत्वस्य तद्विपरीतसहचारदर्शनात् विशेषविरुद्धत्वं हेतोरिति चेत् । न । हेतोर्विवक्षितसाध्यविपरीतसहचारमात्रस्याऽदूषकत्वात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । न हि हेतोर्मूर्त्तस्वानुरूपान्वयिनिमित्तकत्वेन व्याप्तिर्येन तथा स्यात्; किन्तु अविशिष्टेनैव, तस्य च मूर्त्तत्वाङ्गीकारे बाधात् । तथा च न विशेषविरुद्धत्वं, 'विरुद्धोऽसति बाधन' इति वचनात् । अन्यथा धूमस्याऽपि महानसादौ व्यजनसहकृताग्निसहचार दर्शनात् पर्वते विशेषविरुद्धतया वह्न्यननुमापकत्वापत्तेः । न चाऽस्माकमेवमपि क्षतिः, कर्मणा सह लोलीभावेनाऽवस्थानतः कथञ्चिदात्मनो मूर्त्तत्वाभ्युपगमात् ।

अथाऽस्तु अनुरूपो धर्मी मातृचैतन्यमिति चेत् । न । तदभावे सुतचैतन्यस्याऽपि अभावप्रसङ्गात् । अन्यथा धर्मत्वविरोधात्, मातृचैतन्यवृत्तितया च सुते तदभावप्रसङ्गात् । न च मा भवतु स धर्मी, कारणं तु भविष्यति, अनुरूपत्वात् । तथा चाऽसिद्धिरेवाऽऽत्मन इति चेत् । न । तत्संस्कारानुवृत्त्यभावेन तत्कार्यत्वविरोधात् । अन्यथा यज्ञदत्तचैतन्यस्याऽपि देवदत्तचैतन्यकार्यत्वप्रसक्तेः । मृत्पिण्डोपमर्देनैव घटोत्पादवत् मातृचैतन्योपमर्देनैव सुतचैतन्योत्पादप्रसङ्गाच्च । यदि पुनर्दीपाद्दीपान्तरोत्पत्तिवन्मातृचैतन्यात् तदुत्पत्तिरविरुद्धा, तदा तस्य सहकारिकारणतया सिद्ध एवाऽऽत्मा; अनुपादानस्य वस्तुनश्चाऽभावेनोपादानस्याऽऽत्मत्वात् । तत्सिद्धौ च स एवोपादेयरूपतया परिणमते, तदप्युत्तरोत्तरभावेन । तथा च सततमनुच्छित्त्या सुरनारकाद्यवस्थालक्षणः परलोकः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किञ्चैवं यूका-मत्कुणादिषु चैतन्याभाव एव स्यात्, लोकप्रतीतिबाधात् ।

अन्ये तु, ज्ञानं क्वचिदाश्रितं, गुणत्वात्-रूपवदित्यनुमानं प्रमाणमाहुरात्मसिद्धौ । न चेन्द्रियाणि तद्वन्ति, करणत्वाद् वासीवत् । करणत्वेऽपि यदि ज्ञानवत्त्वं स्यात् इन्द्रियाणां तदा तेषां स्वस्वविषयमात्रग्रहणशक्तिमत्त्वेन परविषये प्रवृत्त्ययोगाद् रूप-स्पर्शविषयमेकाधारं ज्ञानं न स्यात्, स्पर्शग्राहकस्य स्पर्शनेन्द्रियस्य रूपाग्राहकत्वात् । अन्यथाऽन्धस्याऽपि घटगतकाठिन्यादिस्पर्शज्ञाने नीलादिविज्ञानस्योत्पादप्रसङ्गात् । न च रूप-स्पर्शविषयमेकाधारं ज्ञानमसिद्धं, य एवाऽहं घटं करेण कठिनमनुभवामि स एवाऽहं श्याममपि साक्षात्करोमीत्यनुभवात् । पूर्वानुभूतस्वशरीररूपादेरन्धत्वदशायामस्मरणप्रसङ्गाच्च । नाऽपि शरीरं तद्वत्, जडत्वात्-घटवत् । न चाऽप्रयोजकत्वं, शरीरस्य ज्ञातृत्वे बाल्यानुभूतमातृस्तन्यपानादेर्वृद्धत्वदशायां संस्कारानुदयेन स्मरणाभावप्रसङ्गात् । नह्यननुभूतमपि स्मर्यते, अतिप्रसङ्गात् । न च वृद्धशरीरं अनुभवितृ, तस्य तदानीमसत्त्वात् । न च तस्याऽपि कथञ्चित् सत्त्वं, **जैनमत**प्रवेशात् । शरीरस्य भूतसमुदायरूपतया नानात्वेन चैतन्यस्याऽपि नानात्वप्रसङ्गात् । न च भूतसमुदायारब्धमेकमेव शरीरं इति चैतन्यमप्येकं, **नैयायिकमत** एव तादृशावयविस्वीकारात्; त्वन्मते तु नैवं, 'समुदायमात्रमिदं कलेवरं'- इति वचनात् । ततः परिशेषाद् यत्राऽऽश्रितं ज्ञानं स आत्मा । स च न शरीरविनाशेऽपि विनश्यति, वस्तुतः सर्वथा विनाशाभावात् । अविनाशित्वे च क्वचिदस्याऽवस्थित्या भाव्यमिति सिद्ध एव परलोकः । सुखित्व-दुःखित्वरूपः पूर्वकृतकर्मफलोदयवान्-**इत्याहुः** ।

एतेन - "सदा मद्यादिकं पेय' मित्यादि यदुक्तं तन्निरस्तं, परलोकसिद्धौ जुगुप्सितकर्मणां दुःखहेतुत्वेन विवर्ज्यत्वोपपत्तेः ।

किञ्च, प्रमाणं विना न कस्याऽपि प्रतिषेधो, भूतानामपि प्रतिषेधप्रसङ्गात् । तथा च किमात्मप्रतिषेधे प्रमाणं ? न तावत् प्रत्यक्षं, तस्य सद्भूतयोग्यार्थग्राहकत्वेन प्रतिषेधे प्रवृत्त्ययोगात् । तदुक्तम्-

"आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चित" इति ॥

अथ प्रत्यक्षं यत्र प्रवृत्तं तत्र प्रवृत्तिव्यवहारं जनयति, यतश्च निवृत्तं तत्र निवृत्तिव्यवहारं इति चेत्, न । प्रतिषेधविषये विवर्तमानं प्रत्यक्षं परमार्थतोऽविद्यमानम् । न चाऽविद्यमानेन वस्त्वभावो गम्यते, खरविषाणस्येवैतस्या-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऽवगमनिबन्धनत्वाभावात् । उक्तं च- "प्रत्यक्षस्य निवृत्तेरभावनिश्चय इति चेत्- तच्च नाऽस्ति, तेन च प्रतिपत्ति'रिति व्याहतमेतदिति ।

ननु वस्त्वन्तरविषयं प्रत्यक्षं, नाऽविद्यमानं, किन्त्वात्मानं न गृह्णाति इति आत्मनिषेधकं केवलभूतलविषयप्रत्यक्षस्य घटनिषेधत्ववत् इति चेत् । न। वस्त्वन्तरेण सहाऽऽत्मन एकज्ञानसंसर्गित्वलक्षणसम्बन्धस्याऽभावात् । तस्याऽतीन्द्रियत्वेन । अन्यथा घटस्येव तस्याऽपि देशकालनिषेध एव स्यान्न पुनः सर्वत्र सर्वदा ।

अथाऽऽत्मविषयकप्रत्यक्षाभाव आत्माभावे प्रमाणमिति चेद् । हतोऽसि । प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति सङ्गरव्याघात् । अभावस्याऽनिश्चयत्वेनाऽप्रमाणत्वाच्च ।

अथ किमनेन वाग्विलासेन ? यत्प्रत्यक्षेण नोपलभ्यते तन्नाऽस्ति । न च परचैतन्येन व्यभिचारः, चेष्टादिदर्शनेन तस्य प्रत्यक्षेणोपलम्भादिति चेत् । न। मूर्च्छितादौ चैतन्यस्य प्रत्यक्षेणाऽनुपलम्भेऽपि सत्त्वात् । न च मूर्च्छापगमेऽन्यदेव चैतन्यं कायादुत्पन्नमिति वाच्यं, मानाभावात् । न च समानमेतत्, पूर्वानुभूतस्मरणस्यैव मानात् । उपलभ्यते हि मूर्च्छापगमे पूर्वानुभूतस्य स्मरणम्, अविगानेन सर्वेषां तथाऽनुभवात् । चैतन्यं च यदि नैतत्प्राचीनं, कथमेतत्स्मरणं स्यात् ? इदानीमुत्पन्नस्य तदनुभवाभावात् । न चेदं भ्रान्तं, विवक्षितमर्थं स्मृत्वा प्रवृत्तस्य संवादोपलब्धेः । न च चेष्टादिना चैतन्यं प्रत्यक्षेणोपलभ्यते, तस्याऽतीन्द्रियत्वात्, चैतन्याव्यभिचारित्वस्य तत्र ग्रहीतुमशक्यत्वाच्च । स्वसंवेदनप्रत्यक्षत एव तस्याः स्वशरीरे चैतन्येन सहाऽव्यभिचारग्रहेऽनुमानप्रामाण्य प्रसङ्गात् । अव्यभिचरितार्थान्तरदर्शनात् साध्यार्थप्रतिपत्तेरनुमितित्वात् ।

किञ्च, 'यन्न दृश्यते तन्नाऽस्ति' इत्येवंरूपोऽविनाभावो न तावत् सिद्धः, सत्यपि वस्तुनि अदर्शनस्य सम्भवात् । कथमन्यथा काष्टाद्यन्तःप्रविष्टाददृश्याज्ज्वलनाज्ज्वलनश्चन्द्रकान्तान्तर्गताद् वा तोयात् तोयं व्यक्तीभवदभ्युपगतं भवता । न च दृश्यमानेन्दुकान्तादेरेव पार्थिवः ज्वलनोदकाद्युत्पादोऽभ्युपगम्यते । नाऽदृश्यमानादित्यपि वक्तुं शक्यं भवता, सर्वेषां भूम्यादीनामुपादानोपादेयभावप्रसङ्गेनाऽऽर्हताभिमतपुद्गलैकतत्त्ववादापत्त्या तत्त्वचतुष्टयवादविलोपात् । असिद्धौ चाऽविनाभावस्य नाभाव एव, आत्मनः सन्धिग्धविपक्षव्यतिरेकत्वात् । सिद्धश्चेद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हा हतं स्वकीयं मतम्, अनुमानस्य स्ववाचैव प्रमाणत्वाभ्युपगमात्। अविनाभाव-स्मरणसापेक्षं लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानस्याऽनुमानत्वात् ।

अथाऽप्रमाणमप्यनुमानं आत्मप्रतिषेधकमस्त्विति चेत् । न । अप्रमाण-स्याऽयथार्थत्वेन प्रतिषेधकत्वायोगात् । स्यादेतत्, यद्यपि मन्मते नाऽनुमानं प्रमाणं, तथाऽपि त्वन्मते तु प्रमाणमेव । ततश्च प्रमाणत्वेनाऽभिमतात् तस्मात् तवाऽऽत्मप्रतिषेधः स्वीकार्यते इति चेत् । न । वस्तुगत्याऽप्रमाणस्य यथावस्थितार्थ-प्रतिपत्तिनिबन्धनत्वायोगात् । अन्यथा प्रमाण-पर्येषणानर्थक्यप्रसङ्गात्। **एतेन** परकीयेनाऽपि खड्गेन दृष्ट एव यथा विनिपातस्तथा परमतप्रमाणेनाऽपि आत्मप्रतिषेध इति निरस्तम् । खड्गस्य परिविनिपातनशक्तिसमन्वितत्वेन ततः परविनिपातोपपत्तेः । न ह्यनुमानस्याऽपि वस्तुप्रमापणशक्तिसमन्वितत्वं येन ततो विवक्षितवस्तुप्रतिपत्तिः स्यात् । परेण तथा स्वीक्रियत एवेति चेत् । तत् किं पराभिप्रायानुयायि वस्तु-इति मन्यसे ? तथा सति काचस्याऽपि कुतः प्रकाशकत्वं न भवति ? परेण तमसि तस्य रत्नत्वेन गणनात् ।

अथेष्यत एव स्वार्थसिद्ध्यर्थं अनुमानस्याऽपि वस्तुप्रमापणशक्तिमत्त्वं, तर्हि सिद्धमेवाऽनुमानं प्रमाणं, यथावस्थितार्थवस्तुविषयत्वेन प्रसह्य प्रामाण्योपपत्तेः । न चैवमपसिद्धान्तः, उपचारेण विषयादीनामपि प्रमाणत्वस्वीकारात्, मुख्यवृत्त्या विज्ञानमेव प्रमाणमिति सिद्धान्तात् । वस्तुतस्तु नाऽस्त्येव तदनुमानं यदात्म-प्रतिषेधकम्, अनुपलब्धेरन्यस्य प्रतिषेधे व्यापारायोगात् । इति-सिद्ध एवाऽऽत्मा, तत्प्रतिषेधकप्रमाणाभावात् । प्रत्यक्षानुमानयोस्तत्साधकत्वेन भणनाच्च ।

अथ 'न चाऽनुमानं प्रमाणम्, अनुमानविरोधादिदोषसद्भावादिति' प्रागेवोक्तमिति चेत् । न । साध्यार्थान्यथानुपपन्नलिङ्गनिश्चयबलप्रवृत्तेऽनुमाने-ऽनुमानविरोधादिदोषाभावात् । न हि धूमेन पर्वतेऽग्नौ साध्ये नाऽग्निमान् पर्वतः, पर्वतत्वात्तदन्यपर्वतवदित्यनुमानविरोधस्य, तथा पर्वतो निस्तलनिर्वृक्षप्रदेश-स्थाग्निमान्, धूमात् महानसवदितीष्टविघातकृत्त्वस्य, पर्वतो नाव्यक्त्या(?)ऽग्निमान्, धूमात्- महानसवदिति विरुद्धाव्यभिचारित्वस्य वा दोषस्याऽवकाशोऽस्ति, एषां प्रत्यक्षबाधितविषयतयाऽनुमानाभासत्वेन विवक्षितानुमानबाधकत्वायोगात् ।

यदप्युक्तं-अनुमानस्य किं सामान्यं विषयो विशेषो वेत्यादि, - तत्रोच्यते । विशेषवत् सामान्यं, अयोगव्यवच्छेदेन प्रदेशविषिष्टस्यैव वह्नेः पुरुषप्रवृत्तिः प्रति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हेतुत्वात् । न च- देशविशिष्टस्याऽपि वह्नेर्न साध्यत्वं तेन सममन्वयाभावात् - इत्यपि वाच्यम् । व्याप्तिकाले वह्निमात्रस्यैव विषयत्वेऽपि प्रयोगकाले देशविशिष्ट-वह्नेरेव विषयत्वात् । प्रतिपाद्यं हि प्रतिपादयता प्रेक्षावता धूमोऽग्निनान्तरीयको दर्शनीयः । यथा यत्र धूमस्तत्राऽवश्यमग्निरिति । स च धूमस्तथा व्याप्तिकाले वह्निमात्रेण व्याप्तः सिद्धः सन् यत्रैव पर्वतादौ स्वयं दृश्यते तत्रैवाऽग्निबुद्धिं जनयति नोदध्यादौ, तेन प्रयोगकाले देशविशिष्टो वह्निर्विषयो निर्दिश्यते । यद्येवं तर्हि प्रयोगकाले न साध्यनिर्देशो युक्तः, सामर्थ्येनैवाऽनन्तरोक्तेन तस्य गतार्थत्वात् । न । अनन्तरोक्तसामर्थ्यपरामर्शशून्यतथाविधपरव्यामोहनिवृत्त्यर्थत्वेम तस्याऽपि सफलत्वात् । अन्यथा हि तन्निर्देशाभावे व्याप्तिवचनान्तरं धर्मिणि पर्वतादौ तस्य दर्शनेऽपि अनन्तरोक्तं सामर्थ्यमनुसर्त्तुमशक्तः सन् कश्चित् व्यामुह्येत । अतः परप्रतिपत्त्यर्थं परार्थानुमान प्रयोगाद्युक्तस्तदपेक्षया प्रतिज्ञाप्रयोग इति युक्तमुक्तं विशेषवत् सामान्यमनुमानस्य विषय इति ।

किञ्चाऽनुमानाप्रामाण्ये प्रत्यक्ष-तदाभासयोरपि प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्था न स्यात् । तथाहि- **चार्वाको**ऽपि कश्चित् प्रत्यक्षव्यक्तिर्विवक्षितार्थक्रियासमर्थार्थ-प्रापकत्वेनाऽविसंवादिनीरन्याश्च तद्विपरीततया विसंवादिनीरूपलभ्य तल्लक्षणव्याप्त्या तादृशीनां प्रत्यक्षव्यक्तीनां प्रामाण्यमितरासां चाऽप्रामाण्यमुद्घोषयेत् । न च प्रत्यक्षम-व्यवहितविद्यमान(ना?)विद्यमानार्थग्रहणपर्यवसितसत्ताकतया पूर्वा-परपरामर्शशून्यं सत् सकलकालभाविनीनां प्रत्यक्षव्यक्तीनां प्रामाण्य-निबन्धनमविसंवादित्व-सामान्यमवबोधयितुमीष्टे । तस्मादवश्यंतया परिदृष्ट-प्रत्यक्षज्ञानव्यक्त्यनुसारेण प्रामाण्यनिबन्धनस्याऽविसंवादिसामान्यस्य प्रत्यायकमनुमानं प्रमाणत्वेनाऽऽ-श्रयणीयम् । अपि च 'अनुमानं न प्रमाणम्'- इति वाक्यस्य सन्दिग्ध-विपर्यस्तान्यतरं प्रत्यर्थवत्त्वात् तयोश्च परकीययोरप्रत्यक्षत्वात् तदवगमार्थं अनुमानप्रामाण्यस्याऽवश्यमङ्गीकरणीयत्वम् । अन्यथा तदीयसंशय-विपर्यययोरज्ञाने तदवबोधार्थं वाक्यप्रयोगानुपपत्तेः । किञ्च प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यनिमित्तं गृह्यमाणपदार्थान्वयव्यतिरेकानुकरणं, तच्च साध्यप्रतिबद्धलिङ्गज्ञान-सामर्थ्येनोदीयमानस्याऽनुमानस्याऽप्यविशिष्टमिति कथं न तत् प्रमाणमङ्गीक्रियते ?

केचित् तु - अथाऽनुमानं न प्रमाणं, गौणत्वात् । गौणं ह्यनुमानम्, उपचरितपक्षादिलक्षणत्वात् । तथाहि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञातव्ये पक्षधर्मत्वे पक्षो धर्म्यभिधीयते ।

व्याप्तिकाले भवेद् धर्मः साध्यसिद्धौ पुनर्द्वयम् ॥ इति ॥

अगौणं हि प्रमाणं प्रसिद्धं, प्रत्यक्षवद्-इति चेत् । संपतितस्तव स्वारूढशाखामोटनन्यायः, गौणत्वाद्-इति हेतुं प्रमाणत्वेन स्वीकृत्य पुनस्तस्यैव प्रमाणत्वखण्डनात् । न च पक्षधर्मत्वं हेतुलक्षणमाचक्ष्महे, येन तत्सिद्धये साध्यधर्मविशिष्टे धर्मिणि प्रसिद्धमपि पक्षधर्मत्वं धर्मिण्युपचरेम, अन्यथाऽनुपपत्त्येकलक्षणत्वाद् हेतोः । नाऽपि व्याप्तिं पक्षेणैव ब्रूमहे, येन तत्सिद्धये धर्मे तदारोपयेमहि, साध्यधर्मेणैव तदभिधानात् । न चाऽऽनुमानिकप्रतीतौ धर्मविशिष्टो धर्मी, व्याप्तौ तु धर्म : साध्यः -इत्येकत्र गौणमेव साध्यत्वमिति चेत् । मैवं । उभयत्र मुख्यतल्लक्षणभावेन साध्यत्वस्य मुख्यत्वात् । तत् किमिह द्वयं साधनीयम् ? । सत्यं । नहि व्याप्तिरपि परस्य प्रतीता, ततस्तत्प्रतिपादनेन धर्मविशिष्टं धर्मिणम्-'अयं प्रत्यायनीयः' इत्यसिद्धं गौणत्वम् ।

अथ नोपादीयत एव तत्सिद्धौ कोऽपि हेतुः, तर्हि कथमप्रामाणिकी प्रामाणिकस्येष्टसिद्धिः स्यादिति नाऽनुमानप्रामाण्यप्रतिषेधः साधीयस्तां दधाति। नाऽनुमानं प्रमेत्यत्र हेतुः स चेत्, क्वाऽनुमानताबाधनं स्यात् ? तदा नाऽनुमानं प्रमेत्यत्र हेतुर्न चेत्, तत् क्वाऽनुमानताबाधनं स्यात् ? **तदेति संग्रहश्लोकः** ।

कथं वा प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यनिर्णयः ? यदि पुनरर्थक्रियासंवादात् तत्र निर्णयस्तर्हि कथं नाऽनुमानप्रामाण्यं ? प्रत्यपीपदाम च-

प्रत्यक्षेऽपि परोक्षलक्षणमतेर्येन प्रमारूपता,

प्रत्यक्षेऽपि कथं भविष्यति ? न ते तस्य प्रमारूपता''इति,- **इत्याहुः** ।

चिन्तामणिकारस्तु- अनुमानस्याऽप्रामाण्ये प्रत्यक्षस्याऽप्यप्रमाणत्वापत्तिः, प्रामाण्यस्याऽनुमेयत्वात् । स्वतः प्रामाण्यग्रहे च तत्संशयाद्यनुपपत्ते**रित्याह** ।

अथ यद्यपि किञ्चित् अनुमानं प्रमाणं, तथाऽपि तज्जातीयस्य तत्पुत्रत्वादेः साध्यार्थव्यभिचारित्वदर्शनेनाऽप्रमाणत्वात् न तत्र प्रामाण्यं इति चेत् । नूनं बहुपुत्रत्वं स्वात्मनोऽभिलषितं त्वया, कुलटाया बहुभर्तृभुक्तत्वेन शीलवत्त्वाभावात्, तज्जातीयतया त्वन्मातुरपि तथात्वात् । नाऽस्त्येव तत्र शीलविश्वास इति चेन्निर्णयेऽपि किं नास्त्येव येन स्वमातुरपि कुलटात्वमङ्गीकुरुषे ? । किञ्चैवं प्रत्यक्षमपि न प्रमाणं स्यात्, मरुमरीचिकानिचयविषये जलोल्लेखिनस्तज्जातीयस्य तस्याऽर्थ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यभिचार-दर्शनेनाऽप्रमाणत्वात् । अथ तत् प्रत्यक्षाभासम्, अतो न तदप्रामाण्ये प्रत्यक्षस्याऽप्रामाण्यं, विजातीयत्वाद् इति चेत् । तर्हि तत्पुत्रत्वादिकमप्यनुमानाभासमिति न तदप्रामाण्येऽप्यनुमानस्याऽप्रामाण्यं, विजातीयत्वादित्यपि तुल्यम् ।

यथाहि यदिन्द्रियसादुण्यादिसामग्रीविशेषसम्पादितसत्ताकं प्रत्यक्षं तत् प्रमाणं, विसंवादाभावात् । इतरत्तु तदाभासम् । न च तद्बाधने व्याघातो, भिन्नजातीयत्वात् । तथा साध्यार्थान्यथानुपपन्नहेतुदर्शनतत्सम्बन्धस्मरणजनितं यदनुमानं धूमादि तत् प्रमाणं, विसंवादाभावात् ।

इतरत् तु यद्धेत्वाद्यवयवमात्रजनितं तत्पुत्रत्वादि तत् तदाभासं, तस्य साध्यार्थान्यथानुपपन्नत्वाभावात् । न च तद्बाधने प्रमाणत्वाभिमतस्याऽनुमानस्य कश्चिद् व्याघातो, भिन्नजातीयत्वात् । तत् परिहरणीयमिदानीं प्रत्यक्षस्य प्रमाणत्वं, स्वीकरणीयं वाऽनुमानस्याऽपि तद्-इति दुस्तरा प्रतिबन्दितरङ्गिणी । किञ्च नाऽनुमानं प्रमाणं-इति वाक्यं चेत् प्रमाणं तदाऽपसिद्धान्तः । अथ न प्रमाणं तदा समागतमेतद् यदनुमानं प्रमाणम् । तत्प्रामाण्याच्च ततः सिद्ध आत्मा प्रमाणसिद्ध एवेति तत्त्वम् ।

न चैतदनागमिकम्, आगमेऽपि जीवसत्ताया भणनात् । "अत्थि जीवे" इत्यादौ तथा दर्शनात् । अथ न चाऽऽगमः प्रमाणमित्यादि प्रागेवोक्तमिति चेत् । अन्यदपि बहूक्तमासीत्, परं तद् यथाऽयुक्तं तथेदमपि । तथा हि -नाऽन्योन्यं वादिनामसङ्गतत्वाभिप्रायमात्रेण वस्तुनोऽभावः; तस्य स्वकारणकलापनिमित्तत्वात् । नहि वस्तु वाद्यभिप्रायनिमित्तं, येन तदसङ्गतत्वेन तदप्यसङ्गतं स्यात् । ततश्चाऽयमप्यागमो यथावस्थितवस्तुप्रकाशनतया स्वयं प्रमाणं सत् परस्परं वादिनामसङ्गतत्वाभिप्रायमात्रेण नाऽप्रमाणं भवितुमर्हति; तदभिप्रायनिमित्तप्रामाण्यानभ्युपगमात् । अन्यथा घटादिप्रत्यक्षमपि प्रमाणं न स्यात्, **अद्वैतवाद्य**भिप्रायेण तस्याऽपि मिथ्यात्वात् । अथाऽस्मदादीनामभिप्रायेण तस्य सत्यत्वमस्त्येवेति तथैव तद् इति चेत् । तर्हि-अस्मदादीनामभिप्रायेण तस्याऽपि प्रमाणत्वमस्त्येवेति तथैवेति तदपि तुल्यम् ।

वस्तुतस्तु एवंभूतानामप्यभाव एव स्यात्, तत्राऽपि बहूनां विप्रतिपत्तेः । तस्माद् भूतानां काठिन्यादिस्वरूपस्येवाऽन्योन्यं वादिनां विप्रतिपत्तेर्नाऽऽगमस्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रामाण्यरूपस्वरूपस्य भ्रंस(श) इति सिद्धं आगमः प्रमाणमिति । एवं चाऽतः सिद्धो जीवोऽपि सुसिद्ध एवेति । यदप्युक्तं-"कथं 'छव्विहा जीवा पन्नत्ता' इत्यादिकं जीवास्तित्वप्रतिपादकं वचः प्रमाणम् । 'पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानी' त्यादिकं जीवप्रतिषेधकं न प्रमाणं, नियामकाभावात् । तस्मात् सुदृढमेतद् यन्नास्ति जीव इति" । तदप्ययुक्तम् ।

अतीन्द्रिये विषये हि तदेव वचः प्रमाणं यदविसंवादि । अविसंवादश्च तदभिधेयस्याऽर्थस्य प्रत्यक्षस्याऽनुमेयस्य वा प्रत्यक्षेणाऽनुमानेन वा यथाक्रमं ग्रहणं परस्परमव्याघातश्च । उपलभ्यते चासौ वीतरागवचसि प्रत्यक्षत्वेन, तदभिहितस्याऽर्थस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणात् । यथा "से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणेऊण तेणं सद्दो त्ति उग्गहिए । नो चेव णं जाणइ के वेस सद्दे ति(त्ति) । ततो ईहं पविसइ" इत्यादिना सूत्रेण शब्दादीनां श्रावणावग्रहादिरूपप्रत्यक्ष-गोचरत्वेनाभिह(हि)तानां तथैव ग्रहणम् । अस्ति चाऽनुमेयत्वेनाऽप्यभिहितस्या-ऽनुमानेन ग्रहणम् । यथा "सासए असासए जीवे ? । गोयमा ! सिय सासए सिय असासए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? । गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासए भावट्ठयाए असासए" । इत्यादिनाऽभिहितस्य नित्यानित्यत्वस्य स्मरणाद्यन्यथा-नुपपत्त्याऽवस्थाभेदान्यथानुपपत्त्या च ज्ञायमानत्वेनाऽनुमेयतयाऽभिमतस्य तथैव ग्रहणम् । परस्पराव्याघातोऽपीह स्फुटोऽस्त्येव, यथा जीवस्य बन्ध-मोक्षावभिधाय नित्यानित्यत्वविधानम्, एकान्तनित्यपक्षेऽनित्यपक्षेऽपि तयोः सर्वथाऽनुपपद्य-मानत्वात् ।

तदेवमविसंवाददर्शनादिदं वीतरागस्य वचस्तावत् प्रमाणमेव । न च वाच्यं वीतरागत्वं कस्याऽपि न सम्भवत्येव । रागादयः कस्यचिदत्यन्तमुच्छिद्यन्ते, अस्मदादिषु तदुच्छेदप्रकर्षापकर्षोपलम्भात्, सूर्याद्यावारकजलद पटलवदित्यनुमानेन तत्सिद्धावसम्भवस्य वाङ्मात्रत्वात् । तदुक्तम्-

देशतो नाशिनो भावा दृष्टा निखिलनश्वराः ।
मेघपङ्क्त्यादयो यद्वदेवं रागादयो मताः ॥ इति ।

यस्य च निरवयवतयैते विलीनाः स एव वीतराग इति । अनादिरागादि-क्षयस्तु तत्प्रतिपक्षभूतरत्नत्रयाभ्यासेन भवत्येव, क्षारमृत्पुटपाकादिना अनादि-सुवर्णमलक्षयवत् । क्षीणरागादेश्च केवलज्ञानाव्यभिचारात् सर्वज्ञत्वं, तत्सिद्धौ च

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाणं-ज्ञानतारतम्यं क्वचिद् विश्रान्तं, तारतम्यत्वात्, आकाशपरिमाणतारतम्यवत्। यत्र तद् विश्रान्तं स एव सर्वज्ञः । इति तत्प्रणीतं यद् वचस्तत् प्रमाणमेव, अप्रामाण्यप्रयोजकस्य मोहादेस्तत्राऽभावात् । तदुक्तम्-

रागाद्वा द्वेषाद् वा मोहाद् वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् ।
यस्य तु नैते दोषास्तस्याऽनृतकारणं किं स्यात् ? ॥

इति सिद्ध एव आगमादप्यात्मा ।

यत् पुनः 'पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरेन्द्रिय-विषयसञ्ज्ञा' इति, तदप्रमाणम् । जीवाभ्युपगममन्तरेण पृथिव्यादिष्वेव भूतेषु जीवद्देवदत्तादिशरीर-घटादिरूपेषु दृष्टस्य सचेतनाचेतनत्वरूपस्य वैचित्र्यस्य सर्वथाऽनुपपद्यमानत्वात्। तथैव प्राक् सविस्तरं दर्शितत्वात्। एवं च 'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य' इत्याद्यपि यथाभिप्रायमुपन्यस्तमप्रमाणमवगन्तव्यम् । यथा पुनरेतदेव वाक्यं विद्वांसो व्याकुर्वन्ति तथा प्रमाणमेव, तथा व्याख्याने दृष्टस्य सचेतनाचेतनत्वलक्षणस्य वैचित्र्यस्य जातिस्मरणादेश्चोपपद्यमानत्वात् । तच्च व्याख्यानं **विशेषावश्यका**दवसेयम् ।

एवं च यः प्रतिषेधति जीवं स एव जीव इति प्रागुक्तमेव युक्तं, भूतानां अचेतनत्वेन तत्प्रतिषेधकत्वायोगात्। यदन्वयिनिमित्तता च चैतन्यस्य कार्यत्वेन प्राक् प्रसाधिता स आत्मैव,तस्यैवाऽनुरूपतया चैतन्यं प्रति धर्मित्वाद्युपपत्तेः । स च परिणामित्वात् सुरनारकादिपर्यायरूपेण परिणमते इति आत्मा परलोक्यपि सिद्धः। तथा च यदुक्तं प्राक्- 'आत्मनोऽभावात् परलोकस्याऽप्यभावः' - इति, तन्मन्दबुद्धिविजृम्भितमित्युपेक्षणीयमेव । न चाऽऽत्मनः सुरनारकादिरूपेण परिणमनमयुक्तमिति वाच्यम् - सत एकान्तेन विनाशाभावात्। न हि घटकपाल-योरन्तरा एकोऽपि क्षणो भावरूपताशून्य उपलभ्यते येन घटः सर्वथा विनष्टः कपालश्चाऽसन्नेवोत्पन्न इत्यपि स्यात्। किं तु घट एव कपालरूपेण परिणमते, न तु सर्वथा विनश्यतीति निश्चीयते । न च दीप-तडागोदकादेरपि निरन्वयो विनाशः, तैलादिक्षये दीपस्यैव तमोरूपेण परिणतत्वात्। नहि प्रौढप्रकाशकयाव-त्तेजःसंसर्गाभावस्तमो, येन तद्रूपत्वं विरुद्धं स्यात्। तडागोदकादेरपि पवनादिनाऽन्यत्र सञ्चार्यमाणत्वेन परिणामान्तरेण सत्त्वात्। कथमन्यथा जलेनाऽऽर्द्रीकृतायां मृदि तन्नोपलभ्यते । न हि रूपान्तरेणाऽपि तत्र तन्नाऽस्त्येव, मृदि प्रागिवाऽऽर्द्रत्वा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावप्रसङ्गात् । तुलायां नत्याधिक्याभावापत्तेश्च । किञ्च घटविनाशस्य भावरूपघटोपादानकत्वेन भावत्वसिद्धौ कथं न प्रमाणबाधितः सर्वतः सर्वथा विनाशः । न चैकान्तेनाऽसत उत्पादोऽपि, असत स्तुच्छरूपत्वेन भवनशक्त्ययोगात्। अन्यथैकान्तेनाऽसत्त्वायोगात्। तथाऽपि चेत् तस्य सत्त्वरूपतया भवनमिष्यते तर्ह्यतिप्रसङ्गः, खरविषाणस्याऽप्युत्पत्तिप्रसक्तेः, तद्भवनशक्त्यविशेषात् । किञ्च यदि विवक्षितभावोत्पादोऽसदुपादानः स्यात् तर्हि तस्य कूर्मरज्जू(रोमो?)पादान करज्जोरिवाऽसत्त्वमेव स्यात् । एवं च सतः सर्वथा विनाशाभावादत्यन्तासत उत्पादाभावाच्च युक्तं सुरनारकादिरूपेणाऽऽत्मनः परिणमनं, तत्तद्विलक्षणशु-भाशुभकर्मरूपसामग्रीसद्भावेन तत्तद्विलक्षणसुर-नारकादिपरिणामोपपत्तेः । एकस्यैव शरीरस्य बाल्ययौवनसामग्रीभेदेन बाल-युवपरिणामोपपत्तिवत् । अत एव न दानादिक्रियाफलस्याऽप्यभावः, परिस्पन्दात्मकचेतनावत् क्रियात्वेन तत्र सफलत्वसिद्धेः । न च सिद्धसाधनं, कीर्त्यादिफलेनाऽदृष्टफलेन फलवत्त्वसाधने सिद्धसाधनाभावात्। न च कृष्यादौ व्यभिचारस्तस्याऽपि पक्षसमत्वेन व्यभिचारा-भावात्। कृष्यादिक्रिया यद्यदृष्टफला न स्यात् तर्हि सर्वमुक्तिरपि स्यात्। पुण्य-पापयोरभावेन तन्निबन्धनसंसारस्याऽप्यभावात् । तद्भवसमुद्रान्यथानुपपत्तिरेव कृष्यादिक्रियाया अदृष्टफलवत्त्वे मानम्। किञ्च तुल्योपायसाध्येऽपि कार्ये प्रवृत्तानां दृश्यते तावत् फलविशेषः । स च न कारणविशेषमन्तरेण घटते, कार्यभेदस्य कारणभेदप्रयोज्यत्वनियमात्। अन्यथा शुक्लतन्तुभ्यो रुक्तोऽपि पटः प्रादुःष्यात्। न च दृष्टं कारणं एकत्र विद्यते न परत्रेति अदृष्टमेवैकत्र न विद्यत इत्यकामेनाऽपि स्वीकरणीयम् ।

किञ्च, आगमोऽपि क्रियामात्रस्यैकान्तेनाऽदृष्टफलत्वं बोधयति । यदाह भगवान् **श्रीसुधर्मस्वामी भगवत्यङ्गे**- "जाव णं एस जीवे एयइ वेयइ चलइ फंदइ घट्टइ खुब्भइ उदीरइ तं तं भावं परिणमइ ताव णं एस जीवे सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा छव्विहबंधए वा एगविहबंधए वा । नो चेव णं अबंधए सिय त्ति" । तच्चाऽदृष्टं द्विविधं, पुण्यपापरूपत्वात् । तत्र दानादिक्रियाजन्यं पुण्यं, हिंसादिजन्यं च पापम् । न च वैपरीत्यमेवाऽस्तु इति वाच्यम्, लोकप्रतीतिविरोधात्। न च गगने श्यामताप्रतीतिवदियं भ्रमरूपा, बाधकाभावात्। हिंसादिजन्यं पुण्यं दानादिजन्यं च पापमिति कल्पनाया बाधकसद्भावे-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाऽकल्पनीयत्वात् । बाधकत्वं चाऽस्या इत्थं-यदि हिंसादिक्रिया यदि(?)पुण्य-जननी स्यात् तर्हि तत्कर्तृणां बहुत्वेन बहुषु सुखित्वोपलम्भः स्यात्, पुण्यस्य सुखं प्रत्येव हेतुत्वात् । दृश्यते चाऽल्पेष्वेव सुखित्वं, ततोऽनुमीयते-दानादिक्रियैव पुण्यजननी, तत्कर्तृणामल्पत्वेन बहुषु दुःखित्वोपपत्तेः । न च दानादिक्रिया कर्तारमन्तरेण भवतीति कर्तृगवेषणायां आत्मैव कर्ता सिद्ध्यति । शरीरस्याऽत्रैव भस्मसाद्भवनेन, तमन्तरेणाऽन्यत्र तत्फलभोक्तृत्वानुपपत्तेः ।

एतेन धार्मिकवचनस्य यदप्रामाणिकत्वमुदीरितं तन्निरस्तं, दानादिक्रियाया अदृष्टफलवत्त्वेन साधनात् । तच्चाऽदृष्टं भवान्तर इहैव वा फलमर्पयति । यदुक्तम् "अवश्यमेव हि(?) भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥" इति ।

यदप्युक्तं- 'जातिस्मरणमप्यसिद्धं - तदप्यसमीचीनं, पूर्वभवानुभूतधन-वनितादिचिह्नभणनानन्तरं तत्संवादेन तस्य सिद्धेः । तत्र च तद्वचनमेव प्रमाणम् । न च विप्रतारकवचनवदप्रमाणत्वमस्य, संवादेन तदुक्तस्य तस्मिन् विप्रतारकत्वा-भावात् । दृश्यते च कस्यचिद् बालस्याऽपि जातिस्मरणं-यथा-अमुकस्थाने मया पूर्वभवेऽमुकया सहाऽनङ्गत्रयोदश्यां मध्याह्नसमये कामक्रीडां कुर्वता इत्युक्तं यत्-

"स्तनभारनते ! स्तनकोटिगतं
तव मौक्तिकदाम कथं विरुचि ? ॥"

तदा तयेत्युक्तं यत्-
उडुचक्रमिदं परिपूर्णविधो-
र्विभमस्य पुरो नहि किं भवति ? ॥ इति ।

पृष्टा च सती साऽप्येवमेव जगादेति । संवादोऽयं, न संवादाभासः, बालस्य विप्रतारणबुद्ध्याद्यभावात् । न च क्वचिद् बाष्पादिनाऽपि अग्निमनुमाय प्रवृत्तौ यथा संवादो यादृच्छिकस्तथाऽयमपीति वाच्यं । बाष्पादौ धूमत्वभ्रमानन्तरं ततोऽग्निमनुमाय प्रवृत्तौ क्वचिद् विसंवादस्याऽप्युपलब्धेः । न च न दृष्ट एव कश्चिदस्माभिर्जातिस्मरणवानिति नाऽस्त्येवेति वाच्यं । प्रपितामहस्याऽप्यभाव-प्रसङ्गात् । न हि स भवता दृष्टोऽस्ति येन कदाचित् स्वीक्रियते, तदभावाच्च पितामहाद्यभावे तवाऽप्यभावः स्यात् । न हि अकारणं किञ्चिज्जायते, सदा भावाभावप्रसङ्गात् । अथ पितामहादिकार्यान्यथानुपपत्त्या प्रपितामहादेः सत्त्वमवगम्यत इति चेत् । तर्हि **पत्तन**स्थेन बालेनोक्तं यद् **दक्षिणापथे**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लक्ष्मीधरग्रामे चतुर्मुखो जिनप्रासादोऽस्ति । न च तस्मिन् भवे तेन सोऽनुभूतोऽस्ति, इति तादृशयथाभूतवस्तुस्मरणरूपकार्यान्यथानुपपत्त्या तस्याऽपि सत्त्वमवगम्यत इति तत् तुल्यम् । अपि चाऽस्ति वृद्धस्याऽपि कस्यचित् तीव्रक्षयोपशमयुक्तस्य बाल्यावस्थानुभूतस्मरणं । तद्वत् पूर्वजन्मानुभूतस्मरणमपि किं न स्यात् ? कस्यचित् तावत्कालविषयस्याऽपि तत्कारणक्षयोपशमविशेषस्य सम्भवात् । न च भूतानां चित्रस्वभावतया स्वप्नज्ञानमिवाऽर्था[त्] तथाभवविकलं जातिस्मरणमुत्पद्यत इति वाच्यम् । चैतन्यस्य भूताधर्मत्वेन भूतानां तथास्वभाव त्वासिद्धेः । एतेन यदुक्तमस्माभिर्बालकस्य प्रथमोत्पन्नस्येत्यादि, तत् सर्वं समञ्जसमेव । अपि च प्रथमो बालस्य स्तनाभिलाषः अभिलाषपूर्वकः, अभिलाषत्वात्, तरुणस्य भोजनाभिलाषवत्-इत्यनुमानतः सिद्ध्यति योऽभिलाषः स प्राचीनभव एव, इह भव एव तस्य स्वीकारे पक्षीभूतस्य प्रथमत्वाभावेन तस्यैव पक्षत्वापत्तौ तत्प्राचीनस्य पूर्वभव एव सिद्धिः स्यादिति सिद्ध एवाऽऽत्मा परलोकयायी ।

अथ न बहिर्व्याप्त्या साध्यं सिद्ध्यति, अतिप्रसङ्गात्, किन्त्वन्तर्व्याप्त्या, सा चेह न, प्रतिबन्धाभावात् । ततः कथं साध्यसिद्धिः ? उक्तं च - "अन्तर्व्याप्तेरसिद्धिर्बहिश्चेद्व्याप्तिस्तस्यां साध्यसिद्धिर्न जातु अन्यव्याप्त्याऽन्यस्य सिद्धिः, यदि स्यात् सर्वस्य स्यात्, सर्वसिद्धिप्रसङ्ग" इति । अपि चैवं सति एवमपि शक्यं वक्तुं-योऽभिलाषः सोऽवश्यमभिलाषान्तरजनको यथा बालस्य प्रथमस्तनाभिलाषः । ततश्चैवमविच्छेदेनाऽभिलाषसन्ततिप्राप्तौ मोक्षाभावप्रसङ्ग इति । तदयुक्तम् । अभिलाषस्य लोभकर्मोदयविपाकजन्यत्वेन, लोभकर्मणोऽपि अभिलाषादिसामग्रीविशेषजन्यतया, प्राग्भवेऽभिलाषाभावाल्लोभकर्मणोऽप्यभावापत्तौ तदुदयनिमित्तकस्य प्रथमस्तनाभिलाषस्याऽप्यभावप्रसङ्गेनाऽन्तर्व्याप्तेः सिद्धेः । न च विशेषविरुद्धत्वं, प्रथमत्वविशेषणेनैव बालाद्यस्तनाभिलाषस्यैहभविका-भिलाषपूर्वकत्वस्य बाधात् । तथा सति प्रथमत्वस्याऽयोगात् । ततश्च कुतो विशेषविरुद्धत्वं ?, 'विरुद्धोऽसति बाधन' इति वचनात् ।

यद्वा बालस्य प्रथमं विज्ञानं विज्ञानपूर्वकं, विज्ञानत्वात्, युवविज्ञान-वदित्यनुमानमात्मसिद्धौ । न च प्रतिबन्धासिद्धेर्व्याप्त्यसिद्धिः इह । न हि नाऽ(?अ)त्यन्तासत उत्पादो, नाऽपि सतो निरन्वय एव विनाशः, किन्तु कथंचित्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत एव भावान्तररूपतया परिणमनम् । ततो विज्ञानादेर्वस्तुनः स्वरूपं अन्वयेन व्याप्तम् । विज्ञानं चेत् न विज्ञानान्तरपूर्वकं स्यात् तर्हि अन्वयविरुद्धोपलब्ध्या व्यावर्त्तमानं विज्ञानं विज्ञानान्तरपूर्वकत्वेन व्याप्यत इति प्रतिबन्धसिद्धौ व्याप्त्यसिद्धेरसिद्धेः ।

यत् पुनः प्रतिनियतालब्धवित्तलाभादिवैचित्र्यस्य नियामकमन्तरेणाऽनुपपद्यमानत्वादित्याद्याशङ्क्य प्रोक्तं-"भूतानामेव तथास्वभावत्वतो वैचित्र्योपपत्तेः, यदुक्तं 'जलबुद्‌बुदवज्जीवा' इत्यादि" । तन्न साधीयः । प्रत्युत तस्य जीवसिद्धिनिमित्तत्वात् । तथा हि, न जलमात्रनिमित्तं तद् बुद्‌बुदवैचित्र्यं, सर्वत्र सर्वदा तद्भावप्रसङ्गात् । ततश्चाऽन्यथाऽनुपपद्यमानं तदात्मनः पवनादि कारणमवगमयति यथा, तथा भूतमात्रत्वाविशेषेऽपि नर-पश्वादिरूपेण प्रत्यात्मवैचित्र्यमन्यथाऽनुपपद्यमानमात्मनः कारणमदृष्टमवगमयति । तदपि विचित्रकार्यदर्शनाद् विचित्रम् । तदुक्तम्-

आत्मत्वेनाऽविशिष्टस्य वैचित्र्यं तस्य यत् कृतम् ।
नरादिरूपं तच्चित्रमदृष्टं कर्मसञ्ज्ञकम् ॥ इति ।

भवति हि तत एवाऽलब्धवित्तलाभादिर्न तु भूतानां, तथास्वभावात् । भेदकमन्तरेण तथास्वभावत्वविशेषस्यैवाऽसम्भवात् । भेदकाभ्युपगमे च पर्यायतः कर्मण एवाऽभ्युपगमात् । तस्य च कर्तारं विनाऽनुपपद्यमानतया, तत्कर्तुस्तदन्यथानुपपत्त्याऽनुमीयमानस्य जीवस्य पूर्वभवेऽप्यस्तित्वं सिद्धम् । तस्मादस्त्येव जीवः परलोकगामी । एवं च 'परलोकिनोऽभावात् सुरनार-कत्वादिलक्षण-परलोकस्याऽप्यभाव'- इत्यादि यदुक्तं तत्सर्वं निरस्तम् । आत्मसिद्धेः प्रमाणमूलकत्वात् ।

अत्र **वदन्ति** - सिध्यतु आत्मा । तथाऽपि अनादित्वं तस्य कुतः ? । कृत्रिमत्वेन घटादिवत् सादित्वस्यैव सिद्धेः । तच्चिन्त्यम् ।

कृत्रिमत्वं हि न कर्तारमन्तरेण भवति । अतोऽस्य कश्चित् कर्ता स्वीकरणीयः । स च जीवो वा स्यादजीवो वा । यदि जीवस्तर्हि तस्याऽपि कश्चित् कर्ता वक्तव्यः । सोऽपि च जीव एवेति तस्याऽपि कर्ता इति प्रसरन्ती अनवस्था दुर्निवारा स्यात् । यदि जीवत्वेऽपि तस्य कर्ता नेष्यते तदा कोऽयं मत्सरो भवतो यत् तदन्यजीवानां कर्तेष्यते ? इति जीवत्वाविशेषात् सर्वेऽप्यकृत्रिमा

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

एव स्वीक्रियन्ताम् ।

किञ्च, न हि प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दधियाऽपि प्रवृत्तिरूपपनीपद्यते इत्यस्य (इति अस्य) जीवनिष्पादने किं प्रयोजनम् ? । नहि कुम्भकारो घटं घटनिष्पत्तिलक्षणमेव फलमुद्दिश्य निष्पादयति, किन्तु तद्विक्रयाद् धनलाभादिफलम्। अथाऽसौ कृतकृत्यत्वात् तन्निष्पत्तेरतिरिक्तं फलं नेच्छति । तदा तन्निष्पत्तिमपि न कुर्यात् । अन्यथा कृतकृत्यत्वमप्यस्य कुष्ठिनः पौरन्दररूपवत्त्वतुल्यम् । अथ स्वभाव एवैष तस्य यत् कृतकृत्यत्वेऽपि विचित्रान् जीवान् विधत्त इति चेत् । तर्हि जगन्निर्माणमहाक्लेशकारणमसौ कल्प्यमानो न सुन्दरः महाक्लेशकर्मकारित्वेन भगवतोऽपरायत्तताभङ्गप्रसङ्गात् । न हि तत्सत्तामात्रमपेक्ष्य जीवा भवन्ति, तेषामनादित्वप्रसङ्गात् । तत्सत्ताया आदिश्चेत् स्वीक्रियते तर्हि सोऽपि कादाचित्क एवेति कृत्रिम एव सञ्जात इति तत्कर्तृकल्पने प्रागुक्तैवाऽनवस्था ।

अथ तस्य सत्ताऽनादिरेव, परं न सा स्वसमकालं जीवोत्पत्तिकारणं, किन्तु कियत्यपि काले गते, अतो जीवानां सादित्वं इति चेत् । तर्हि जगत्कर्तुः पूर्वं जगदकारकत्वं पश्चाच्च तत्कारकत्वमिति स्वभावभेदात् स्फुटमनित्यत्वं अतादवस्थ्यस्याऽनित्यत्वात् । तथा च तस्य प्राप्तमादिमत्त्वमिति विनाशित्वमपि स्यादिति लाभमिच्छतस्तव सञ्जातो मूलस्याऽपि क्षयः ।

अथ स्वभाव एवाऽनित्यो न तु स्वभाववानपि, तस्य ततो भिन्नत्वादिति चेत् । न । स्वभावस्य स्वभाववत एकान्तेन भेदे स्वीक्रियमाणे तस्य स स्वभाव एव न स्यात् । घटवत् अन्यत्राऽप्युपलम्भः स्यात् । न चैतद् दृष्टमिष्टं वा । तस्मात् कथञ्चिदभिन्न एव स्वीकर्तव्य इति भवति तस्याऽनित्यत्वे स्वभाववतोऽपि कथञ्चिदनित्यत्वं, स्वभावात् कथञ्चिदभिन्नत्वात् ।

अथ जीवानामेवाऽयं स्वभावो यत् कियत्यपि काले गते जगत्कर्तुः सत्तामपेक्ष्य ते भवन्ति-इति चेत् । न । उत्पन्नानां किमयं स्वभावः अनुत्पन्नानां वा ? नाऽऽद्यः, उत्पन्नानां पुनरुत्पादाभावेन तत्स्वभावकल्पनाया निरर्थकत्वात् । न द्वितीयः, अनुत्पन्नानां तुरङ्गशृङ्गतुल्यत्वेन स्वभावाधिकरणत्वाभावात्, स्वभावस्य वस्तुधर्मत्वात् ।

किञ्च, वीतरागो ह्यसौ करुणया यदि जीवान् करोति तदा सर्वानपि सुखिन एव कुर्यात्, न पुनर्दुःखिनः । न हि मध्यस्थोऽपि कस्यचिद् दुःखमुत्पादयति,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विरोधात् ।

अथ क्रीडया विचित्रान् सत्त्वान् करोतीति चेत्, तर्हि तस्य कौतस्कुती वीतरागता ? । क्रीडाया विचित्रक्रीडनोपायसाध्यक्रियादर्शनाभिष्वङ्गात्मकतया रागस्वभावत्वात् । न च क्रीडान्यथानुपपत्त्या रागादिमत्त्वमपि स्वीक्रियते इति वाच्यम् । अन्योन्याश्रयात् । नाऽपि विचित्रसत्त्वकरणान्यथानुपपत्तिरेव क्रीडा यां मानमिति नाऽन्योन्याश्रय इति वाच्यम् । तस्यैवाऽसिद्धेः । न चाऽऽगम एव मानं, तत्र विप्रतिपत्तेः ।

किञ्च यद्यसौ रागादिमान् स्यात् तर्हि सर्वस्य कर्ता न स्यात्, अस्मदादिवत् । यो हि यस्य कर्ता स तदुपादान-सहकारिकारणानि सम्यग् वेदयिता भवेत् । यथा घटस्य कर्ता कुम्भकारस्तदुपादान-सहकारिकारणानि । न च रागादिमान् पुरुषः सर्वस्य उपादानादिकारणानि जानीयात् । रागादिमत्त्वेन तस्याऽधिष्ठितौदारिकशरीरतया करणग्रामाधीनविज्ञानोदयत्वात् । न च करणविज्ञानं सर्वविषयकं, अतीन्द्रिये करणस्याऽप्रवृत्तेः, 'सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिने'ति वचनात् ।

अथ रागादिमत्त्वेऽपि तस्य जगत्कर्तृत्वं भवत्येव, कृत्रिमत्वाभावात्-इति चेत् । न । कर्तृत्वेऽकृत्रिमत्वस्याऽप्रयोजकत्वात् । तदुपादानगोचरापरोक्ष-ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नानामेव तत्कर्तृत्वे प्रयोजकत्वात् । अन्यथा कालादेरपि सर्वकर्तृत्वप्रसङ्गात् । न च ते तस्य सम्भवन्ति, रागादिमत्त्वात् । रागादिवशगस्य च ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धावश्यम्भावेन सर्वोपादानविषयकज्ञानस्य विरहात् सर्वकर्तृत्वं कुतः स्यात् ? ।

अथ सरागो न कर्मबन्धकारणं, न चैवं तस्य [स]रागत्वमेव न स्यात्, दाहाजनकस्याऽपि वह्नेर्वह्नित्वात्, इति चेत् । हन्तैवं विवक्षितवह्नेर्यथा दाहो न भवति तथा तस्मादपि रागादेर्न परमेश्वरस्य कञ्चित् सुखिनं दुःखिनं च कर्तुं प्रवृत्तिर्भूयात् । त्वदुक्तरीत्या तस्य स्वकार्यजननं प्रति असमर्थत्वात् ।

अथ विवक्षितप्रवृत्तिलक्षणं कार्यं तज्जनयत्येव । तर्हि कर्मबन्धमपि कुतो न जनयेत् ? । न हि रागो जारस्य वक्षःस्थलपीडनाधरखण्डन-शरीरारोहण-सुरतादौ प्रवृत्तिं जनयन् कर्मबन्धं न जनयति, सर्वेषामपि मुक्तिप्रसङ्गात् ।

स्यादेतत्--तत्तत्कार्याणि कुर्वन्नपि परमेश्वरो न लिप्यते कर्मणा । जलान्तः

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

प्रविशन्नपि (प्रविशदपि) यथा पद्मिनीपत्रं जलेन । लिप्यते च तत्र तेन, यथा वस्त्रं तथा अस्मदादिरिति जीवत्वाविशेषोऽपि वस्तुत्वाविशेष इव किं न स्यात् ? । न च पुरुषत्वं जलसंयोगनिमित्तकारणं, तच्च पद्मिनीपत्रे नाऽस्ति ततस्तत् तेन न लिप्यते । कर्मबन्धकारणं तु रागादिरेव, स च परमेश्वरेऽप्यस्तीति स लिप्यत एवाऽस्मदादिवत् कर्मणेति वाच्यम् । तथाविधरागादेस्तत्राऽभावात् । तन्न । स्तोकतरे रागे स्तोकतरप्रवृत्तिर्भविष्यतीति स्तोकतरः कर्मबन्धोऽपि स्यात् । तथा च तदवस्थ एव सर्वज्ञत्वाभावात् सर्वकर्तृत्वाभावः ।

अथैतद्दोषभयात् स्तोकतरोऽपि तत्र रागो नास्तीति प्रोच्यते, तर्हि वीतरागत्वेन सर्वज्ञत्वेऽपि न कञ्चित् सुखिनं दुःखिनं वा स्रष्टुमभिलाष उपजायते, इति कुतः क्रीडया विचित्रसत्त्वकरणमुच्यमानं सङ्गतं स्यात् ? ।

वस्तुतस्तु जगत्स्रष्टा नाऽस्त्येव, तत्साधकप्रमाणाभावात् । न च प्रमितं क्वचिन्निषिध्यते, न पुनरप्रमितं, प्रमितश्च जगत्स्रष्टा, तदा न निषेध इति वाच्यम् । 'खरविषाणं नाऽस्ती'त्यनेनाऽप्रमितस्याऽपि खरविषाणस्य निषेधात् ।

किञ्च, सतो जीवान् स कुरुतेऽसतो वा ? । नाऽऽद्यः, अनवस्थापत्तेः, न द्वितीयः, खरविषाणस्येव तेषां तुच्छत्वेन कर्तुमशक्यत्वात् । घटस्याऽप्युपादानं विद्यत एवेति नैकान्तेनाऽसत एव तस्य करणम् । एवमेव यदि जीवानामप्युपादानमिष्यते तर्हि तज्जीवात्मकमेव वाच्यमिति सिद्धं जीवानामनादित्वम्, अन्यथाऽसदुपादानकत्वेन तेषामसत्त्वमेव स्यात् ।

किञ्च, यदि सर्वं जगत् परमेश्वरः करोति तदा तन्निषेधकमपि शास्त्रं तेनैव कृतमिति सत्यमेव तत् स्वीकर्तव्यम् । तथा च स नाऽस्त्येव । यदि पुनरसत्यं तदाऽसत्यशास्त्रकारित्वात् कथं स प्रमाणम् ? ।

अथाऽजीवो जीवानां कर्ता इति चेत् । न । अजीवस्य तदुपादानगोचरज्ञानादेरभावेन तत्कर्तृत्वानुपपत्तेः ।

अथ यथा शालिबीजादीनि ज्ञानविकलान्यपि नियतशक्त्युपेततया नियतस्वकार्यकारीणि दृश्यन्ते तथाऽयमप्यजीवस्तथाविधशक्तिसद्भावात् देवनारकादिभेदभिन्नान् जीवान् कुरुते इति चेत् । न । पूर्वोक्तदोषसन्दोहस्याऽत्राऽप्यवतारात् । तथाहि- अयमजीवः किं कृत्रिमो वा स्यादकृत्रिमो वा ? । यदि कृत्रिमस्तदा सोऽप्यन्येन कर्तव्य इत्यनवस्था । अथाकृत्रिमस्तर्हि जीवैः किमपराद्धं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यत् तेषामकृत्रिमत्वं न स्वीक्रियते ? । किञ्च, यद्यसावकृत्रिमस्तदा तन्निष्पाद्या जीवा अपि तत्सत्ताभवनतुल्यकालत्वादनादय एव प्राप्ता इति गतं विवादेन । अथ नाऽसौ स्वसत्तासमकालमेव जीवान् कुरुते यत् तेषामनादिता स्यात् किन्त्वनन्ते कालेऽतीते इति चेत् । तर्हि तस्याऽनित्यत्वं स्यात् । पूर्वं विद्यमानस्याऽकारकत्व-स्वभावस्य प्रच्युत्याऽविद्यमानस्य कारकत्वस्वभावस्योत्पादात्, स्वभावस्य च स्वभाविनोऽनर्थान्तरत्वात् । यदि च नाऽस्त्येव स्वभावभेदस्तदा पूर्वमिव पश्चादप्यकारकत्वमेव स्यात् ।

ननु तस्यैक एवेदृशः स्वभावो यदनन्ते कालेऽतीते सति स जीवान् कुरुते नाऽन्यदा । तथा च न तस्य स्वभावभेदो नाऽपि जीवानामनादिता इति चेत् । न । अनन्ते कालेऽतीते सति स तस्य स्वभावो निवर्तते एवेति वाच्यम् । तथा चाऽनित्यत्वमेव तस्य, स्वभावभेदस्याऽनित्यत्वलक्षणात् । अन्यथा सर्वादाऽप्यकारकत्वप्रसङ्गात्, करणकालत्वाभिमतकालेऽपि तस्य सत्त्वात् ।

किञ्च नाऽसौ सतो जीवान् कुरुते, सतोऽपि करणेऽनवस्थानात् । नाऽप्यसतः, एकान्ततुच्छत्वेन तेषां वन्ध्यापुत्रादीनामिव भवनशक्त्ययोगात् । तन्नाऽजीवोऽपि जीवानां कर्तेति कारणविरहादनादिरेव जीवः, आकाशवत् । तदुक्तं-

अमओ य होइ जीवो कारणविरहा जहेव आगासं ।
समयं च होअणिच्चं मिम्मयघड-तंतुपडमाई ।। ।।इति।

अनादित्वाच्चाऽनन्तत्वमपि, सतः सर्वथा विनाशायोगात् । तत् सिद्धमेतत् यद्-अस्ति जीवः, अनादिरनन्तश्च । सोऽपि अमूर्त्तः, अतीन्द्रियत्वात्, गगनवत् । यो हि मूर्त्तः स कदाचिच्चक्षुरादीन्द्रियग्राह्योऽपि भवति । यथा घटारम्भकपरमाणु समूहो घटावस्थायाम् । न चाऽयं जीवः कर्मविनिर्मुक्तस्वरूपः कदाचिदपि चक्षुरादीन्द्रियग्राह्यो भवति, तेनाऽतीन्द्रियत्वादमूर्त्त एव । एवमन्येऽपि अमूर्त्तत्व-साधने मूर्तिविरह-खड्गाद्यभेद्यत्वा-ऽसर्वज्ञानुपलम्भादयो हेतवोऽभ्यूह्याः । न चैवं सिद्धान्तविरोधः कथञ्चिन्मूर्त्तत्वस्य संसारिदशायामेवेष्टत्वात् । सिद्धि दशायां तस्य 'अवण्णे अगंधे' इत्यादिना सूत्रेणाऽऽगमेऽपि अमूर्तत्वेनैव भणनात् ।

अथाऽयं जीवः परिणामी अपरिणामी वा । तत्र परिणामीति **जैनाः** । **अपरे** पुनरपरिणामीति । तद् विचिन्त्यते । यथा मृत्पिण्डश्चक्रादिसामग्रीसद्भावाद

Jain Education International	For Private & Personal Use Only	www.jainelibrary.org

घटपरिणामं प्राप्नुवन् परिणामीत्यभिधीयते, तथा जीवोऽपि, तत्तत्सामग्रीसद्भावात् तस्याऽपि तत्तत्सुखदु:खादिपरिणामप्राप्तेः । परिणामित्वाच्च नैकान्तेनानित्यो नाऽप्यनित्य:, किन्तु नित्यानित्य एव । अन्यथा सुखादिपरिणामायोगात् । तथा हि-यद्ययमात्मा एकान्तेन नित्य: स्यात् तदा सर्वदा एकस्वभाव एव स्यात् । अप्रच्युतानुत्पन्न-स्थिरैकरूपत्वादेकान्तनित्यस्य । न चैवं, य एव सुखी तस्यैव सुखसामग्र्यभावेऽसुखित्वोपलब्धेः, दु:खसामग्री सद्भावे च दु:खित्वेनोपलब्धेश्च । न च सुखदु:खोभयस्वभाव आत्मा इत्येकस्वभाव एवाऽयं, युगपत् सुखदु:खानुभवप्रसङ्गात् ।

अथ यदैव नदीमुत्तरता मुनिना चरणयो: शीतलजलसंस्पर्शात् सुखमनुभूयते, तदैव लुञ्चिते शिरसि खरतरदिनकरकरतापतो दु:खमपि । अतोऽस्त्येव सुखदु:खवेदकस्वभावत्वमात्मन: इति चेत् । न । कालस्याऽत्यन्तसूक्ष्मत्वेन मनसश्चाऽतीवाऽऽशुसञ्चारितया सतोऽपि क्रमानुभवस्याऽनुपलक्षणात् शतपत्रपत्रशतं मया शूच्यग्रेण युगपद् भिन्नमित्यत्रेव तत्र यौगपद्याभिमानस्य भ्रमत्वात् । युगपच्चेज्ज्ञानमभ्युपगम्यते तदा मन:कल्पना निरालम्बा स्यात्, युगपज्ज्ञानानुत्पत्तेर्मनसो लिङ्गत्वात् । तदुक्तम्-

"युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्ग" मिति ।

अथ कदाचिदात्मन: सुखवेदकत्वं कदाचिच्च दु:खवेदकत्वं, तेनाऽयं उभयवेदकस्वभाव इत्युच्यते इति चेत् । तर्हि सुखवेदनकाले तस्य दु:खवेदनस्वभावो निवृत्त इत्यात्माऽपि कथञ्चिन्निवृत्त एव, स्वभावस्य स्वभाववतोऽभिन्नत्वात् । अन्यथा नि:स्वभावत्वेन तस्य खरविषाणस्येवाऽसत्त्वं स्यात् । तथा च प्राप्तमात्मनोऽनित्यत्वम् । अथ सुखवेदनकालेऽपि दु:खवेदकस्वभावो न निवर्तते, तदा तदानीं दु:खमपि वेदयेत्, प्रागिव दु:खवेदकस्वभावस्य सत्त्वात् । अथ दु:खवेदकस्वभावोऽपि तदानीं विद्यते, अन्यथा तन्नाशेन कथञ्चिदात्मनोऽपि नाशाभ्युपगमापत्तेः । न चैवं दु:खमपि तदानीं वेदयेदित्यपि वाच्यं । तत्सत्त्वेऽपि दु:खसामग्र्यभावेन दु:खवेदनानुपपत्तेरिति चेत्- हन्तैवमपि उभयसामग्रीसद्भावे उभयमप्येकदा वेदयेत्, उभयवेदकस्वभावस्य सर्वदा सत्त्वात् । न चोभयसामग्रीसन्निधानमेकदा न भवति, स्रक्-चन्दन-वनितादिकसुखसामग्र्या विष-शस्त्रप्रहारादिदु:खसामग्र्याश्चैकदा देवदत्ते सन्निधानस्य प्रत्यक्षेणोपलब्धेः । न च

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेदयेदेवैकदोभयं, प्रागेव निरासात् ।

किञ्च, यां स्रक्-चन्दन-वनितादिकां सामग्रीमवाप्य सुखी भवत्यात्मा, सा किमात्मनः कञ्चिदुपकारं कुरुते न वा ? । यदि कुरुते तर्हि स उपकार आत्मनोऽर्थान्तरं अनर्थान्तरं वा ? । यद्यर्थान्तरं तदा तेन सहाऽऽत्मनः सम्बन्धो न स्यात्, घटवत्, अर्थान्तरत्वात् । तथा च सति तदाऽपि तदवस्थात्वान्नाऽऽत्मा सुखी स्यात् । न चाऽर्थान्तरभूतोऽपि स उपकार आत्मना सह सम्बध्यते, तस्याऽद्रव्यत्वेन संयोगासम्भवात् । संयोगरूपत्वे तु समवायेन सम्बध्यत इत्येव तवाऽभिप्रायः । स त्वभिप्रायो वन्ध्यापुत्रेण सह संभोगाभिप्रायो युवत्यां; समवायसत्त्वे मानाभावात् । तत्साधकत्वेनाऽभिमतस्येह घटे रूपमिति प्रत्ययस्य इह भूतले घटाभावप्रत्ययस्येव समवायासाधकत्वात् । अथाऽनर्थान्तरभूत उपकारः क्रियत इति चेत् । स किं विद्यमानः क्रियतेऽविद्यमानो वा ? । यदि विद्यमानः, कथं क्रियते ? कृतस्य करणायोगात् । क्रियते चेत् तर्ह्यनवस्था, विद्यमानस्याऽपि करणाभ्युपगमे विद्यमानत्वाविशेषात् भूयो भूयः करणप्रसङ्गः । अथाऽविद्यमानो, व्याहतमेतत्; सतोऽनर्थान्तरभूतोऽविद्यमानश्चेति विद्यमानाव्यतिरिक्तो हि विद्यमान एव भवति, अन्यथा तदव्यतिरेकायोगात् ।

अथ किमनेन वाग्जालेन ? सत एव हि वाससो मञ्जिष्ठादि द्रव्येणाऽविद्यमानस्तदव्यतिरिक्तो रिक्तो रक्तादिरूप उपकारः क्रियमाणो दृष्टः । न च दृष्टेऽप्यनुपपन्नतेति चेत् । तर्हि स्फुटमात्मनोऽनित्यत्वं, आत्मनोऽनर्थान्तर-भूतस्योपकारस्य क्रियमाणत्वाभ्युपगमेनाऽऽत्मन एव क्रियमाणत्वापातात्, तस्य तदव्यतिरिक्तत्वात् ।

अथ स्रक्-चन्दनादिसामग्री नाऽऽत्मन उपकारं करोति, ततो न दोष इति चेत् । तर्हि किं तेनापेक्षितेन ? उपकाराकारकत्वेन तत इव वस्त्वन्तरादप्यात्मा सुखी वा दुःखी वा स्यात्; वस्त्वन्तरादिव ततोऽपि वा न स्यात् ।

अथाऽन्यद् वस्त्वन्तरं न सुखादिजननस्वभावमिति न ततः सुखी दुःखी वाऽऽत्मा सम्भवेत्; स्रक्-चन्दनादि तु तज्जननस्वभावमिति, ततस्तथा तथाऽऽत्मा स्यादेवेति चेत् । ननु यदि तेन कश्चिदुपकारो न क्रियते तदा तत्स्वभाववर्णनमनर्थकमेव स्यात् । न हि परमाणौ च्छेद्ये खड्ग-सर्षपयोः स्वभावविशेषो वर्ण्यमानः सङ्गतिमाप्नुयात्, उभयोरपि तत्राऽकिञ्चित्करत्वेनाऽ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषात् ।

अथ खड्गस्य छेदका[दि]स्वलक्षणः स्वभावस्तु वर्तते, सर्षपस्य तु नाऽस्ति इति चेद् वर्ततां नाम, परं परमाणौ छेदितव्ये स वर्ण्यमानोऽनर्थक एव, तत्र द्वयोरप्यकिञ्चित्करत्वात् ।

अथाऽऽत्मन एवाऽयं स्वभावो यदनुपकार्यपि स्रक्-चन्दनादिकं प्राप्य सुखी दुःखी वा भवति आत्मा इति चेत् । विवक्षितसहकारिसन्निधानात् प्राक् य आत्मनः स्वभावः स चेत् सहकारिसन्निधाने न निवर्त्तते तदा स सुखी वा दुःखी वा न स्यात्, प्राचीनस्वभावत्वात् । अथ निवर्तते तदा प्राप्तमनित्यत्वं, पूर्वस्वभावपरित्यागेनोत्तरस्वभावोत्पादात् ।

अथोच्यते-अन्य एवाऽऽत्माऽन्यच्च सुखादि, अतः कथं सुखादियोगा-न्यथानुपपत्त्याऽऽत्मनः परिणामित्वम् ? । तत्र । एवं प्रतिप्राणिप्रसिद्धः सुखानुभवः कस्य स्यात् ? आत्मनः सुखान्यत्वेन तदनुभवाभावात् ।

अथ यथा स्फुटिकस्याऽलक्तकयोगाद् रक्तता भवति तथा आत्मनोऽपि सुखादियोगात् तत्प्रतिबिम्बेन तदनुभव इति चेत् । न । स्फुटिकोपलस्य हि तत्तदुपधानभेदेन तत्तत्प्रतिबिम्बं युक्तम् । तस्याऽपरापररूपापत्तियोगतः परिणामित्वात् । आत्मा तु त्वयैकान्तो नित्य इष्यते । ततस्तस्य तत्तत्प्रतिबिम्ब-रूपतापत्तिलक्षणपरिणामशून्यत्वात् सर्वथा सुखादिप्रतिबिम्बमयुक्तम् । यदि च सुखादिसन्निधानात् आत्मनः अपरापरसुखादिप्रतिबिम्बरूपतापत्तिलक्षणः परिणामः स्वीक्रियते तदा प्राप्तमात्मनः परिणामित्वम् । तथा च सति तस्य ह्लादादिस्व-भावत्वात् सुखादीनामात्मधर्मत्वप्रसङ्गः । न हि सुखमचेतने, अनुभवविरोधात् । किन्त्वात्मन्येव । न चैकान्तनित्यपक्षे सुखयोगो घटते, सुखसामग्रीप्राप्त्यभाव-प्रसङ्गात् । कदाचित् सुखसामग्रीप्राप्तौ पूर्वस्वभावपरित्यागेन नियमेनाऽऽत्मनोऽ-नित्यत्वात् ।

किञ्च, यद्यात्मा एकान्तनित्यः स्यात् तर्हि प्रतिप्राणिप्रसिद्धो घटपटादि-विज्ञानविवर्त्तोऽपि न स्यात् । किन्तु आकालं घटाद्यन्यतरस्यैव कस्यचिद् विज्ञानं स्यात्, एकस्वभावत्वे भिन्नभिन्नवस्तुविषयकविज्ञानासम्भवात् । क्रमेण भिन्नभिन्न-वस्तुविषयविज्ञानं च दृश्यत एवाऽऽत्मनि इति स्वभावभेदात् स्फुटमनित्यत्वम् ।

अथ विज्ञानं यद्घटपटादिविषयकमुत्पद्यते तदेवाऽनित्यं, न पुनरात्माऽपि,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तस्य ततोऽन्यत्वात् । तन्न । ज्ञानं हि यदि एकान्तेनाऽऽत्मनोऽन्यत् स्यात् तर्हि तस्मादात्मनोऽर्थप्रतिपत्तिर्न स्यात्, तदभावाच्च तदानयनादौ प्रवृत्तिस्तु दूरापास्तैव । नहि देवदत्तसम्बन्धिनो ज्ञानाज्जिनदत्तस्याऽर्थप्रतिपत्ति; लोके मूर्खाभावप्रसङ्गात् । ततः कथञ्चिदभिन्नमात्मनो ज्ञानं स्वीकर्तव्यम् । एवं च यद्यात्मा एकान्तनित्यः स्यात् तर्ह्येकज्ञानवानेव स्यात् ज्ञानान्तरवत्त्वे ज्ञानाभिन्नत्वेन पूर्वज्ञानविनाशे आत्मनोऽपि कथञ्चिद् विनाशात् । किञ्चैवं हिंसादिपरिणतिरप्यात्मनो न स्यात्, एकान्तनित्यत्वेन सदैकस्वभावत्वात् । दृश्यते च यदि सेति स्वीक्रियते तदा पूर्वमहिंसादिपरिणतिलक्षणस्वभावोपमर्देन हिंसादिपरिणतिलक्षणस्वभावभावादात्मनोऽनित्यत्वं स्यात् । तदभावाच्च बन्धोऽपि कौतस्कुतः स्यात् ? अथैतद्दोषभयात् सर्वदैव हिंसादिपरिणतिरभ्युपगम्यते तदा मुक्तिः कदाचिदपि न स्यात् । तथा च यमनियमादिकरणमपि दृश्यमानमसङ्गतमेव स्यात्, प्रागवस्थायां तस्य हिंसापरिणतत्वात्, अथ हिंसा-परिणामस्य च त्वया सर्वदाऽभ्युपगमात् । कदाचिदनभ्युपगमे चाऽऽत्मनो भिन्नरूपत्वेनाऽनित्यत्वापातात् । न चैकस्वभावत्वेऽपि कदाचिद् बन्धः कदाचिदबन्ध इति वाच्यं । बन्धाबन्धकाल-भेदेऽभ्युपगम्यमाने आत्मनोऽनित्यत्वापातात् । तथा हि-यदैवाऽस्य न बन्धस्तदा बन्धकारणहिंसापरिणतिस्वभावो जरसेव यौवनमबन्धकारणहिंसाविरतिपरिणामस्वभावेनाऽपनीयते, अन्यथा तत्परिणतिस्वभावभावेन पूर्वकालवद् बलाद् बन्ध एव स्यात् । न हि वह्निरनपगते दहनस्वभावे न दहतीति; तत्परिणतिस्वभावापगमे च नियतमनित्यता ।

माऽस्तु वा बन्धाबन्धकालभेदः, तथाऽप्यात्मा कथञ्चिदनित्य एव । अन्यथा य एव स्वभावः प्रथमसमये स एव द्वितीये, इति द्वितीयसमयबन्धनीयस्याऽपि कर्मणः प्रथमसमय एव बन्धः स्यात्, तत्कारणस्य स्वभावस्य विद्यमानत्वात्, प्रथमसमयभाविबन्धवत् । ततो द्वितीयादिक्षणेऽबन्ध-कत्वमात्मनः प्राप्तमिति स्वभावभेदादनित्य एवाऽऽत्मेति स्थितम् ।

किञ्चैवमहिंसादिविरतिपरिणतिरपि न सम्भवति, जीवस्यैकस्वभावत्वेन हिंसापरिणतिविच्युत्यभावात् । न चेष्टापत्तिः, मुक्त्यभावप्रसङ्गात्, तत्कारणहिंसादिविरतिपरिणत्यभावात् । अथ हिंसादिविरतिपरिणतिरभ्युपगम्यते तर्हि सर्वदा तदेकस्वभावत(वतः) मुक्तिरेव स्यात् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नन्वयमेव तस्य स्वभावो यत् कदाचिद् बन्धः कदाचिन्मुक्तिः । न चाऽत्र पर्यनुयोगार्हत्वं, स्वभावस्य तथाविधत्वात् इति चेत् । नूनमुन्मत्तोऽसि यदेवं प्रलपसि । यतो बन्धस्य कारणं हिंसादिपरिणतिर्मोक्षस्य पुनरहिंसापरिणतिरनयोश्च परस्परं विरुद्धतया यौवनिकायां शिशुतेव अहिंसापरिणतौ हिंसापरिणतिर्नियतमपगच्छेत् अन्यथा तत्सद्भावेन प्रागिव बन्ध एवेदानीमपि केवलो भवेन्न मुक्तिरिति ध्रुवमनित्य एवाऽऽत्मा ।

अत्र **वदन्ति**- हिंसादिपरिणतिस्तद्विरतिपरिणतिर्वा आत्मनोऽवस्था-भूता । अवस्थाश्च अवस्थातुरेकान्तेन भिन्ना, धर्मधर्मिणोरेकान्तेन भेदाभ्युपगमात् । ततोऽवस्थानां विनाशेऽपि नाऽवस्थातुरपि विनाश इति नित्य एवाऽऽत्मा, अविचलितस्वरूपत्वात् इति चेत् । न । एकान्तभिन्नत्वेन ताभ्यां देवदत्तात्मनो बन्धो मोक्षश्च न स्यात् । एवमपि यदि स्यात् तर्ह्यतिप्रसङ्ग एव, सिद्धानामपि तत्फलाप्तेर्भेदाविशेषात् ॥

अथाऽऽत्मा न बध्नाति पुण्य-पापे, अकर्तृत्वात् । नाऽप्यसौ मुक्तो, बन्धाभावात् । न चाऽसौ संसरति, निःक्रियत्वात् । केवलं प्रकृतिरेव सत्त्वादिसाम्यावस्थारूपा संसरति बध्यते मुच्यते चेति । तदुक्तम्-

तस्मान्न बध्यते[न मुच्यते]नाऽपि संसरति कश्चित् ।
संसरति मुच्यते बध्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ इति ।

तच्चिन्त्यते-

यदि प्रकृतिरेव बध्यते मुच्यते च, न पुनरात्मा, तस्य सर्वदाऽविकारवत्त्वात्, तर्हि भवजिहासया मुक्तेरूपादित्सया च कथं वरतरुणीवक्षःस्थलशयनं विहाय हिमवच्छिलायां शेषे यमनियमवान् ? भवापवर्गयोरात्मनोऽविशिष्टत्वात् ।

ननु भ्रान्तिरियं भवताम् । नाऽहं यमादौ प्रवर्तेयं, किन्तु देहेन्द्रियमनोविकारसहिता प्रकृतिरेवेति चेत् । नूनमुदारोऽसि, स्वधनमन्येषां ददासि । यत् प्रकृतेरचेतनत्वेन घटादेरिवाऽऽलोचकत्वायोगात्, मुक्त्यर्थानुष्ठानस्य चाऽऽलोचनापूर्वकत्वात् ।

अथाऽचेतनाऽपि प्रकृतिर्मनोविकारावस्था चेतनसम्बन्धाच्चिद्रूपा भवति,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपाधिसम्बन्धात् । स्फुटिकोऽपि यथोपाधिरूपः । तदुक्तम्-

पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् ।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फुटिकं यथा ॥ इति ।

चिद्रूपं च तत् [आ]लोचनायां प्रवर्तते इति । तदप्यसमीचीनं । पुरुषस्यैकस्वभावत्वेनेत्थं सदा प्रयोजकत्वापत्तेः । तथा च सति सदैव तद्रूपत्वान्मुक्त्यभावप्रसङ्गः ।

एतेन यथा चन्द्रः स्वभावेनाऽविकृतात्मा एव सन् चन्द्रोपलस्य पयःक्षरणे कदाचित् प्रयोजकः कदाचिन्न, तथाऽयमप्यात्मा कदाचिदेव प्रयोजको भविष्यति न तु सदेति निरस्तम् । चन्द्रस्याऽपि नित्यानित्यतया सर्वदैवाऽविकृत-स्वभावत्वाभावात् । अन्यथा तस्याऽपि सदा प्रयोजकत्वापत्तेरिति । तस्मादात्मन एव बन्धमोक्षौ अभ्युपगन्तव्यौ । तथा च तस्य तदन्यथानुपपत्त्या परिणामित्वमेवेति स्थितम् ।

अन्यस्याऽपि एकान्तनित्यत्वेन कथं बन्ध-मोक्षौ स्याताम् ? परिणामित्वे च कथं नाऽऽत्मनस्तौ ? प्रकृतेर्मोक्षाङ्गीकारे च तस्याः स्वरूपहानिरेवाऽभ्युपगता स्यात् । यदुक्तम्- "प्रकृतिवियोगो मोक्षः" इति । ततश्च प्रकृतेः प्रकृतित्ववियोगे स्वरूपभ्रंशात् । तथा च कुतो नित्यत्वमस्याः । किञ्चैवं-

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राऽऽश्रमे रतः ।
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नाऽत्र संशयः ॥

इति सिद्धान्तो मुक्तिप्ररूपको भवतां लुप्तः स्यात्, प्रकृतेर्मुक्त्यभिधानात् । अतो दृष्टादृष्टयोर्विरोधभावादेकान्तनित्यत्वं नाऽस्त्येव सर्वस्याऽपि वस्तुनः ॥

नन्वस्तु एकान्तेन तर्हि अनित्य एवाऽऽत्मा-इति चेद् । उत्सुकोऽसि, परं स्थिरीभव । स्थिरभावमन्तरेण निर्णयानुपपत्तेः । यद्यात्मा अनित्य एव स्यात् तर्हि कथं द्वे अपि सुखदुःखे वेदयते ? । सुखवेदकस्य प्राक्क्षण एव नष्टत्वेन दुःखक्षणेऽनवस्थानात् । न चाऽन्य एव दुःखभोक्ता, सकललोक-व्ययवहारोच्छेदप्रसङ्गात् । लोके हि व्यवहारोऽयं- य एवाऽयं प्राग् दुःखी आसीत्, स एवाऽयमिदानीं सुखी । य एवाऽयं सुखसाधनार्थं यतते, स एव किल सुखमाप्नोति । येनैव पूर्वभवे बद्धं कर्म, स एवाऽस्मिन् भवे भुङ्क्ते । य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवेदानीं करोति पुण्यं वा पापं, स एवाऽऽगामिभवे तत्फलं भोक्ष्यति । य एव भवविरक्तः, स एवाऽयं संयमरतो दृश्यते । यौवनावस्थापन्नोऽपि स एवाऽयं मदीयः पुत्रः अहमेव चाऽस्य पिताऽपीति । य एवाऽसौ संसारी स एव वैराग्यादिवशान्मुक्त इति । येनैव प्राग् घटादिकमनुभूतं स एव स्मरति न त्वन्यः, अननुभूतस्य स्मरणायोगादित्यादिः । स चैकान्तक्षणिकत्वे आत्मनः कथं स्यात् ? शुभाशुभकर्तुस्तदानीमेव नष्टत्वेन तत्फलभोक्तुरन्यत्वात् ।

चेत् कोऽस्त्ययं य एतादृशं वचनमवादीत् ?। अहमस्मि **बुद्धशिष्य** इति चेत् । वाक्योच्चारणक्षणमात्रवृत्तितया क्षणिकस्त्वं कथमद्याप्यसि ? असि चेत् कथं क्षणिकः ? । तत्क्षणनाशेऽपि तव सम्प्रति विद्यमानत्वात् । अथाऽहं नाऽस्मि, किन्त्वन्य एवाऽयं वदति-इति चेत् । तर्हि असन् त्वं कथं वदसि 'अहं नाऽस्मि किन्त्वन्य एवाऽयं वदति' इति ? । नह्यसत् शशशृङ्गं कदाचिदप्यहं नाऽस्मीति वदति, अविद्यमानस्याऽर्थक्रियाकारित्वाभावात् । कथं वा नष्टेन त्वयाऽन्योऽयं वदतीति निश्चीयते ? अन्याऽस्तित्वक्षणे तव सर्वथाऽप्यभावात् । तस्मादस्येव त्वमिदानीमपीति कथमात्मा क्षणिकः स्यात् ? ।

किञ्चैवं बाल्यावस्थानुभूतपांशुक्रीडादिस्मरणं वृद्धस्य न स्यात्, क्रीडानुभवितुर्बालात्मनस्तत्क्षण एव नष्टत्वात् । इदानीन्तनवृद्धात्मनस्तदानीमभावेन क्रीडानुभवितृत्वाभावात् । न चाऽननुभूतस्याऽपि स्मरणं संगच्छते, तव **मदनुभूतस्य विद्यानगरादिनिवासस्य** स्मरणापत्तेः ।

अथ भूत-भवद्-भविष्यत्क्षणप्रवाहरूपारूपात् (प्रवाहरूपात्) सन्तानात् सर्वोऽपि स्मरणादिको व्यवहार उपपद्यते । तदुक्तम्-

यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्मवासना ।
फलं तत्रैव सन्धत्ते कर्पासे रक्तता यथा ॥ इति ॥

इति चेत् । न । स सन्तानः सन्तानिभ्योऽन्यो वा स्यात् ? अनन्यो वा ?। यद्यन्यस्तर्हि किं नित्यो वा स्यात् ? क्षणिको वा ? । आद्ये "क्षणिकाः सर्वसंस्काराः" इति प्रतिज्ञाव्याघातः । द्वितीये कथं स्मरणादिको व्यवहार उपपद्यते ? सन्तानस्य तत्क्षण एव नष्टत्वात् । अथ सन्तानिभ्योऽनन्य एव सन्तानस्तर्हि सन्तानिन एव, न कश्चित् सन्तानः, तदव्यतिरिक्तत्वात्, तत्स्वरूपवत् । तथा च तदवस्थ एव पूर्ववत् व्यवहारविलोपप्रसङ्गः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ न पूर्वापरक्षणप्रवाहमात्रं सन्तानो नाऽपि तद्व्यतिरिक्तः कश्चिद् वस्त्वन्तरभूतः, किन्तु य एवेह पूर्वोत्तरक्षणानामुपादानोपादेयभावः स एव सन्तानस्ततश्च सर्वोऽप्यनन्तरोदितो व्यवहार इत्यदोष इति चेत् । न । विवक्षितैकतमकारणक्षणाद् यथा सन्तानान्तरवर्ती क्षणो भिन्नस्तथा कार्यक्षणोऽपि भिन्न एव, सर्वथा कार्ये कारणधर्मानुगमाभावात् । ततो यथा देवदत्त-जिनदत्तयोरत्यन्तं भिन्नत्वादेककर्तृकः स्मरणादिको व्यवहारो न सङ्गतिमश्नुते तथा विवक्षितेष्वपि पूर्वोत्तरक्षणेषु । नहि भिन्नसन्तानान्तरवर्तिनः क्षणादस्य कार्यक्षणस्य कश्चिद् विरोधो यन्निबन्धनोऽत्र सर्वोऽपि पूर्वोक्तो व्यवहारः प्रवर्तेत, नेतरत्रेति स्यात् । न च भिन्नसन्तानान्तरवर्तिनः क्षणात् कार्यक्षणस्याऽस्त्येव वैशिष्ट्यं, कार्यकारणभावात् । न हि यथैकसन्तानवर्तिप्रथमक्षणस्य यथा स्वोत्तरक्षणस्तस्य कार्यं, स्वयं च तस्य कारणं, तथा भिन्नसन्तानान्तरवर्ती स्वोत्तरक्षणोऽपीति वाच्यम् । एकान्तक्षणिकपक्षे कार्यकारणभावस्याऽसिद्धेः क्षणिकं हि कार्यत्वाभिमतं वस्तु पूर्वक्षण एव निरन्वयनष्टं सत् कथमुत्तरक्षणे(णं) जनयेत् ?। नह्यभावाद् भावोत्पत्तिः, पूर्वकारणक्षणात् पूर्वमेव कार्योत्पत्तिप्रसङ्गात् । तदभावस्य प्रागपि विद्यमानत्वात् ।

अथ कारणप्रध्वंसाभावादेव कार्यं न तु तत्प्रागभावादपीति नोक्तदोष इति चेत् । न । अभावस्य सर्वोपाख्याविकलत्वेन विशेषाभावादेवं व्यवस्थानुपपत्तेः । न हि केन[चि]दपि विशेषणेन विशेषयितुं शक्योऽभावः, खरविषाणवत् सकलशक्तिशून्यत्वेन कर्मत्वशक्त्ययोगात् । अथ कारणादेव कार्यं, तदाऽन्वय-सिद्धिप्रसङ्गः, कारणभावाविच्छेदेन कार्यस्य भावाभ्युपगमात्, भावाविच्छेदस्यैवाऽन्वयत्वात् ।

नन्वन्य एव कारणभावोऽन्यश्च कार्यभावस्तत्कथमिह भावाविच्छेदेऽपि अन्वयापत्तिरिति चेत् । न । तत्त्वतो भेदकाभावेन एकान्तेनाऽन्यत्वाभावात् । क्षणयोर्हि पूर्वापरयोस्तद्भेदकत्वं स्यात् । न च तयोर्विवक्षितपूर्वापरभावयोरन्यत्वम्, अक्षणिकत्वप्रसङ्गात् । तदपरक्षणभावेऽनवस्थापातात् । अनवस्थाप्रसङ्गाभावेऽपि न तयोः क्षणयोर्भेदकत्वमेव, उभयोरपि भावयोर्भावरूपताया अविशेषात् । आकारादिभेदाद् विशेषसिद्धिरिति चेत् । न । आकारादिभेदवत् अविशेषेण भावरूपताया अपि प्रतीयमानत्वात् ।

न चाऽ(नन्व)धिकृतघटजन्यकपालवत् घटान्तरजन्यकपालेऽपि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मृत्त्वादिलक्षणा भावरूपता यथा प्रतीयते तथाऽत्राऽपि, तथा चाऽस्तु तत्रेवाऽत्राऽपि अन्वयाभाव इति । तन्न, तद्रूपशक्तिगन्धपरिमाणादिसङ्गताया भावरूपताया अन्वयसिद्धिनिबन्धनत्वेनाऽधिकृतघटजन्यकपाल इव घटान्तरजन्यकपालेऽन्वयानापत्तेः । तत्रेवाऽत्र तथाभूताया अस्या अननुभवात् ।

अथ यस्मिन्नेव क्षणे कारणं विनश्यति तस्मिन्नेव क्षणे कार्यं जायते। अतो नाऽभावाद् भावः, कारणादेव कार्योत्पादात् । नाप्यन्वयापत्तिः, कारणस्य निरन्वयनाशात् । तन्न । कारणकार्ययोर्विनाशोत्पादौ न कारणकार्ययोर्भिन्नौ । तथा सति तत्सम्बन्धित्वाभावप्रसङ्गात्, अर्थान्तरगतविनाशोत्पादवत् । किन्त्वभिन्नौ। तथा च नाशोत्पादयोः कार्यकारणभावः स्यात्, कारणकार्याव्यतिरिक्तत्वात्, तत्स्वरूपवत् । न चैतद् युक्तम्, विवक्षितयोः कारणकार्ययोर्युगपद्भावित्वेन युवतिकुचयोरिव कार्यकारणभावानुपपत्तेः । युगपद्भावश्च तयोरभिन्नकालनाशोत्पादाभिन्नत्वाभ्युपगमात् ।

अथैते उत्पादविनाशादयो न पारमार्थिकाः किन्तु कल्पिताः । न हि वस्तूनां तदतिरिक्ता काचित् क्रिया इति चेत् । तथाऽपि नाशोत्पादौ तावत् प्रतिप्राणि प्रत्यक्षेणोपलभ्येते । तौ च तुल्यकालाविति कथं भेदाभेदोद्भवा दोषाः परिहार्याः ? ।

ननु क्षणस्थितिधर्मा भाव एव नाशो न तु तदन्यः कश्चित् । तदुक्तम्- "क्षणस्थितिधर्मा भाव एव विनाश" इति । तत् कथमत्र तत्कल्पनेति चेत् । तथाऽपि कारणसत्ताक्षण एव कारणविनाशक्षणः, स एव चेत् कार्योत्पादक्षणस्तदा समकालभावितया कमलनयनानयनयोरिव कथं तयोः कार्यकारणभावः स्यादिति चिन्त्यम् ।

अथ यदि कारणतन्नाशयोर्धर्मधर्मिभावः परिकल्पित एवेति ब्रूषे तदा हेतुफलभावोऽपि कुतः ? कल्पितस्याऽपरमार्थतो सत्त्वेनोभयस्याऽपि धर्मिधर्मलक्षणस्याऽभावात् । न च धर्मधर्मिव्यतिरिक्तं किञ्चिद् वस्त्वस्ति यद् हेतुः फलं वा भवेत् । न च धर्मिधर्मभावः कारणं तद्विनाशः कार्यं तदुत्पाद इत्येवंरूपो यः स एव परिकल्पितो न तु धर्म्यपि कारण कार्यलक्षणः । तत्र हेतुफलाभावाभावरूपो दोष इति चेत् । न । यदि उत्पादविनाशरूपो धर्मः परिकल्पितस्तदा कार्यकारणलक्षणो धर्मी कुतः पारमार्थिकः स्यात् ? । धर्मरहितस्य निःस्वभावतया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खरविषाणस्येव धर्मित्वानुपपत्तेः । स्वभावाभ्युपगमे च स्वभावस्य धर्मत्वात् अशक्यः पारमार्थिको धर्मधर्मिभावोऽपाकर्तुम् ।

स्यादेतत्-सकलसजातीयविजातीयव्यावृत्तं निरंशमेवैकं स्वलक्षणं पारमार्थिकं, व्यावृत्तयश्च परिकल्पिताः, ताश्च भेदान्तरप्रतिक्षेपविवक्षायां भिन्ना इव परतन्त्रतया निर्दिश्यमाना धर्मा इति व्यपदिश्यन्ते । तस्माद् धर्मधर्मिभाव एव कल्पितो न तु धर्मी । तत्र कारणस्य कार्यस्य वाऽभावप्रसङ्गः । तथा च सति यदि पूर्वं स्वलक्षणं विशिष्टं प्रतीत्योत्तरं स्वलक्षणमुत्पत्स्यते ततः को दोष इति चेत् । मैवम् । विशिष्टं कारणं प्रतीत्य कार्यमुत्पद्यते, प्रतीयते च तत् यदुपकारि भवति । यदाह **भवदाचार्यः** - "उपकारीत्यपेक्षः स्यात् " इति । निरंशं च स्वलक्षणं किं करोति ? । किं कार्याभावविनाशं ? किं वा कार्यम् ?, किमुभयं वा ?, किं वाऽनुभयम् ?। न तावत् कार्याभावविनाशं स्वलक्षणं कुरुते, विनाशस्य भवताऽहेतुकत्वेनाऽभ्युपगमात् । "अहेतुत्वाद् विनाशस्य" इति वचनात् । अभ्युपगमे वा स कार्याभावविनाशः किं कार्याभावाद् भिन्नः स्यादभिन्नो वा ? यदि भिन्नस्तर्हि स विनाशस्तस्य न स्यात्, वस्त्वन्तरविनाशवत् । अथाऽभिन्नस्तदा कार्याभाव एव कृतः स्यात् । स च प्रागेवाऽस्तीति किं तेन कृतं; कार्याभावाभिन्ने च कार्याभावविनाशे कृते सति न कार्यभावः स्यात्, प्रागिव कार्याभावस्यैव सत्त्वात् ।

अथ कारणकृतेन नाशेन कार्याभावस्य विरोधान्नास्तित्वे सति कार्यस्य सामर्थ्यादस्तित्वं भवत्येव, भावाभावयोरेकतरप्रतिषेधस्याऽपरविधिनान्तरीयकत्वात् । तदा तत्कार्यं निर्हेतुकमेव स्यात्, कारणस्य तदभावनाशे व्यापृतत्वात् । निर्हेतुकत्वे च कार्यस्य सदा भावाभावप्रसङ्गो, "नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात्" इति न्यायात् । न चैतद् दृष्टमिष्टं वा ।

अथ नैवाऽन्यः कश्चित् कार्याभावः, किन्तु कारणमेव । करोति च तत् कार्यं विवक्षितं नाऽन्यदिति चेत् । कस्मात् तत् कारणं कार्यं तदेव कुरुते नाऽन्यदिति ? । अथ स्वहेतुभ्यस्तत्कारणं तत्स्वभावमेवोत्पन्नं यत् तदेव कार्यं कुरुते नाऽन्यदिति चेत् । तत् किं सत्स्वभावं कार्यं जनयेत् ? असत्स्वभावं वा ?, आहोस्विदुभयस्वभावं ?, अनुभयस्वभावं वा ? । नाऽऽद्यः, सतोऽपि करणेऽनवस्थापातात् । न द्वितीयः, असत्स्वभावस्य खरविषाणस्येव केनाऽपि कर्तुमशक्यत्वात् । न तृतीयः, एकान्तवादहानिप्रसङ्गात् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैना हि एवमुपदिशन्तो विदितयथास्थितवस्तुस्वरूपाः सदसि विराजन्ते । यदुत- कारणावस्थायां कार्यं द्रव्यात्मतया सत्स्वभावं पर्यायात्मकतया चाऽसत्स्वभावमित्युभयस्वभावमिति न चतुर्थः, सम्भवाभावात् । न ह्येव सम्भवोऽस्ति यथा न सत्स्वभावं कार्यं नाऽप्यसत्स्वभावमिति एकतरस्वभावप्रतिषेधे सामर्थ्यादन्यतरस्वभावविधिप्रसक्तेः ।

न च तत्कारणं यदैव कार्यमुत्पद्यते तदैव सत्स्वभावकार्यजनन-स्वभावमिति वक्तुं युक्तं, व्याघातात् । यदि प्रागसत्स्वभावं कार्यं तदा कथमधुना सत्स्वभावं ? । व्योमकमलादीनामपि तथाभावप्रसङ्गात् । एतेन प्रागुक्तं किमुभयं वा करोति ?, अनुभयं वेति विकल्पद्वयं निरस्तम् ।

अथोत्पन्नं वस्तु भावशब्दाभिधेयं, भावत्वादेव च चिन्ताविषयो नाऽन्यथा । दृश्यते चाऽथ तद् वस्तु प्रत्यक्षेण । ततो निरर्थिका चिन्ता, दृश्यस्याऽ-पह्नोतुमशक्यत्वात् । अदृष्टस्य चाऽनुत्पन्नत्वेन चिन्तातीतत्वात् । इति चेत् । न । सत्यम् । किन्तु 'इदं उत्पन्नत्वं दृश्यमानं कथं घटते ?' इत्येवं युज्यते चिन्ता । यतः प्रत्यक्षेण दृश्यमानमपि गुणक्रियावयव्यादि तव युक्तिरूपया चिन्तया बाधितं तन्न दृष्टमेव प्रत्येतव्यं, दृष्टस्याऽपि **ऐन्द्रजालिककण्ठच्छेदस्य** युक्त्या बाधितत्वात् ।

किञ्च, कार्यं हि किं कारणसत्तामात्रमपेक्ष्य भवति, कारणक्रियां वा ? यद्याद्यस्तर्हि कारणकाल एव कार्यं स्यात्, उपरिक्षणे कारणसत्ताया अभावात् । अस्त्वेवमिति चेत् । एकक्षणभावितया सव्येतरगोविषाणयोरिव हेतुफलभावा-नुपपत्तेः । न द्वितीयः । कारणक्रिया हि तदुत्पत्तिरेव । "भूतिर्येषां क्रिया सैव, कारणं सैव चोच्यत" इति वचनात् । तथा च तत्सत्तामात्रपक्षोक्तो दोषः ।

अथ कारणाभावमपेक्ष्य कार्यं भवति तदा त्वभावाद् भावोत्पत्तिरिति कारणसत्ताप्रथमक्षणेऽपि तदुत्पत्तिः स्यात् । कारणाभावस्य च कारणाभिन्नत्वेन कारणक्षण एव तदुत्पत्तेरयुक्तत्वात् ।

ननु कारणसत्तामपेक्ष्यैव यतो भवति कार्यं तत एवाऽनन्तरक्षणे भवति । अन्यथा तदपेक्षैव न स्यात्, तस्य सर्वात्मना निष्पन्नत्वात्, इति चेत् । तर्हि अनित्यत्वं कृतकत्वमात्रसत्तानिबन्धनं न स्यात्, द्वितीयेऽपि क्षणे कारणस्या-ऽनुवर्तमानत्वात् । कथमन्यथा कार्यमुत्पद्यमानं तत्कारणमपेक्षते ?, तस्य सर्वथा विनाशात् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ कृतकत्वानित्यत्वयोरभेदादनित्यत्वं कृतकत्वमात्रानु-बन्ध्येवाऽन्यथा पश्चाद्दवदनित्यत्वं कारणान्तरसापेक्षतया भिन्नहेतुत्वात् कृतकत्वाद् भिन्नं न स्यात्। इत्यनित्यत्वं कृतकत्वानुबन्ध्येव इति चेत् । तर्हि द्वितीयक्षणे कारणापेक्षाया अभ्युपगमो न सुन्दरः स्यात्। तदा तस्य विनष्टत्वेन कार्यस्य तदपेक्षाया अनुपपत्तेः।

अथैष एव कारणस्य स्वभावो यत् तस्याऽनन्तरक्षणे कार्यं भवति । कार्यस्याऽपि चैष एव स्वभावो यत् कारणक्षणानन्तरं मयोत्पत्तव्यमिति, ततो न दोष इति चेत् । तथाऽपि कार्यस्य कारणानन्तरक्षणभवने कारणस्वभाव एव निबन्धनम् । अन्यथा प्रागपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गात् । न द्वितीयक्षणे कारणस्वभावः, तस्य क्षणिकत्वात्। तत् कथं तद्भावः स्यात् ? । भावे वा तस्य तत्स्वभावोपेक्षितया न कारणस्य क्षणिकत्वं स्यात्। नाऽप्यसतः कार्यस्य स्वभावः कल्पयितुं शक्यः, स्वभाविनोऽभावे स्वभावस्याऽप्यभावात् । जातस्य तस्य स तथा कल्प्यत इति चेत् । किमिदानीमनेन कर्तव्यं ? कार्यस्य प्रागेवोत्पत्तेः ।

अथ स स्वभावः परिकल्पित इति चेत् । न । तथा प्रतीत्यभावात् ।

एतेन यदुक्तं प्राक्- "विशिष्टं कारणं प्रतीत्य कार्यमुत्पद्यत" इति । तत् सप्रपञ्चमपास्तम् । वस्तुतस्तु क्षणिकत्वेनाऽस्त्येव कारणस्य वैशिष्ट्यम् । युगपद् भाविनां परिनिष्पन्नत्वेन परस्परमनाधेयातिशयत्वेन विशेषणाभावात् । न च- मा भूत् सहजानां परिनिष्पन्नत्वेन परस्परमतिशयाधानं, द्वाभ्यां पुनरूपादानसहकारि-कारणाभ्यां प्राक्तनाभ्यामेकीभूय विशिष्टं तदुत्पादितम् । ततः सिद्धं वैशिष्ट्य-मिति-वाच्यम् । उत्पाद्यविशिष्टकारणापेक्षया भिन्नाद्धानां सहकारिणां सम्बन्धी कुतः विशेषः स्यात् ? उपादानस्य विशेषभावमन्तरेण विवक्षितसहकारिसन्निधानात् प्रागिव तत उपादानतो विशिष्टफलानुपपत्तेः ।

अथ विवक्षितफलसम्बन्धिन उपादानस्य विशेषभावः सहकारिभिः क्रियमाण आश्रीयत इति चेत् । न । समकालभावित्वेन तस्याऽप्युपादानकारणस्य सहकारिभ्यो विशेषानुपपत्तेः । न हि समकालभाविनोऽन्यतो भवतः सहकारिणा-करणादन्यत एव भवत उपादानकारणस्य विशेषभावो युज्यते ।

स्यादेतत्- उत्पाद्यविशिष्टक्षणोपादानस्य विवक्षितोपादानसहकार्यु-पादानैस्तदुपादानोपादानानामपि तदुपादानोपादानैर्विशेषभाव आधीयते । तथा च न दोषः । अनादित्वाच्चोपकार्योपकारकपरम्पराया नाऽनवस्थाऽपीष्टा बाधिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इति । मैवम् । अनादिपक्षोऽपि विशेषभावस्येष्यमाण उपकार्योपकारकाणां युगपद्भावित्वमयुगपद्भावित्वं वाऽन्तरेण न भवति । तत्र चोक्तो दोष इति ।

अथोपादानक्षणस्य स्वहेतुत एष एव स्वभाव उत्पेदे यदकिञ्चित्करमपि सहकारिकारणं प्राप्य उपादेयक्षणे विवक्षितविशिष्टकार्यजननसमर्थं विशेषं करोति। ततो घटत एव वैशिष्ट्यमिति चेत् । न । मानमन्तरेण स्वभावः कल्प्यमानो वस्तुव्यवस्थानिबन्धनं न भवति, अनिष्टस्याऽपि भावान्तरस्य कल्पनापातात् । अपि च विवक्षितफलोपादानोपादानस्याऽस्थानपक्षपातोऽयं यत् स्वकार्यं विशिष्टस्वफलसाधनप्रवृत्तमत्यन्तानुपकारिणः सहकारिणोऽपेक्षायां नियुक्तमिति । एवं च सहकारिकृतस्य विशेषस्य सर्वथाऽनुपपद्यमानत्वेन विशिष्टं कारणं न संगच्छत एव ।

किञ्च विवक्षितघटक्षणादनन्तरं तदुत्तरक्षणवत् अविशेषेण सकल लोकभाविनां पटादिक्षणानां भावे सति कुतोऽयं नियमो निश्चीयते यदस्य विवक्षितघटक्षणस्येदमेव विवक्षिततदुत्तरघटक्षणलक्षणं कार्यं न त्वन्यदिति ? ।

अथाऽस्ति विवक्षितं कारणं विवक्षितफलजननस्वभावं नाऽन्यत् । कार्यमपि च तदेव विवक्षिततत्कारणजन्यस्वभावं नेतरत्, स्वभावसामर्थ्याद्, अतो निश्चीयते नियम इति चेत् । न । कारणत्वेनाऽभिमतस्य घटक्षणस्य पटादिक्षण इव तदुत्तरघटक्षणेऽपि अनुगमविशेषसम्पादनारहितस्य न विवक्षितफलजननस्वभावः स्तोकश्रद्धाया विषयः, सर्वथा कारणगतधर्मानुगमविशेषाभावाविशेषात् । नैवाऽसौ स्वभावः परिकल्प्यमानः कथंचिदप्युपपद्यते । असति च कारणान्तरकृतकार्य इव विवक्षितेऽपि कार्ये तद्रूपरसगन्धशक्तिपरिणामानुगमादिरूपेण प्रकारेणोपकारे कथं कार्यमपि विवक्षितं तत्तत्कारणजन्यस्वभावं ? । कार्यान्तरवत् उपकारभावाविशेषात् ।

अथ विवक्षितघटक्षणस्य विवक्षितकार्यमेवोपकारो न त्वनुगमरूप इति ब्रूषे तर्हि पटादिकमुपकारः कुतो न भवेत्, विशेषाभावात् ?। विवक्षितकारण-जन्यस्वभावत्वाभावात् पटादेर्नोपकारत्वमिति चेद् । विवक्षितकार्यस्य विवक्षित-कारणोपकारत्वे प्रयोजकं विवक्षितकारणजन्यस्वभावत्वं, तच्च किंकृतमिति वाच्यम् । किमत्र प्रष्टव्यं ?, हेतुस्वभावकृतमेव तत् इति चेत् । कस्तस्य हेतोः स्वभावो यद्बलात् कार्यस्य तत्स्वाभाव्यमुपजायते ? । नन्वयमेव स्वभावो यत् तत्कार्यं तदनन्तरमेव भवति । हेतोः स्वहेतुशक्तितस्तादृश एव स्वभाव उत्पेदे येन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तदनन्तरमेव तद् विवक्षितं कार्यं भवति । तथा च तत्कृतं कार्यस्याऽपि तत्स्वाभाव्यमिति चेत् । पटादेरपि तत्स्वाभाव्यं कथमेवं न भवेत्तस्याऽपि तदनन्तरमेव भवनात् ।

ननु विवक्षितमेव तदुत्तरघटक्षणलक्षणं कार्यं विवक्षित घटक्षण-लक्षणकारणानुकारं, न त्वन्यत् पटादिक्षणलक्षणं कार्यम् । तेन तदेव तस्य कार्यं नेतरदिति चेत् । न । पटादेरप्येवं तत्कार्यत्वापातात्, वस्तुत्वादिना तस्याऽपि तत्प्राचीनघटानुकारित्वात् । अपि च तद्धर्मानुगमविरहे कार्यस्य कथं तदनुरूपत्वं भवेत् ?। घटादेरपि वा कुतो न भवेत् ?। प्रमाणाभावस्योभयत्राऽपि सत्त्वात् । कारणधर्मानुगमाभावाविशेषेऽपि चेदमेवाऽस्य कार्यं नाऽन्यदित्यत्र न कोशपानं विना मानमस्ति । इति कथं त्वदुक्तं विना वल्लभं कोऽप्यङ्गीकुर्यात् ? ।

किञ्चेदं कारणमपेक्ष्य इदं कार्यं जायत इत्यत्र न किञ्चिन्मानम् । कारणक्षणवर्तिनो ज्ञानस्य तदैव विनष्टत्वेन कार्यग्रहणासमर्थत्वात्, कार्यक्षणवर्तिनश्च ज्ञानस्य कार्यग्रहण एव सामर्थ्यात्, कारणस्य नष्टत्वेन तद्ग्रहणानुपपत्तेः ।

अपि च भवन्मते कार्यकारणभावः कदाचिदनुपलम्भपुरःसरेण प्रत्यक्षेणाऽवगम्यते । यदुवाच **धर्मकीर्तिः** "येषामुपलम्भे तल्लक्षणमनुपलब्धं सत् उपलभ्यत इति तल्लक्षणम्" इति उपलब्धिलक्षणप्राप्तम् । **एतेन** चोपलब्धि-लक्षणप्राप्तानुपलम्भेन तस्मिन् देशे तस्य धूमादिकार्यस्य स्वहेतोः सन्निधानात् प्रागपि सत्त्वम् । तथा तस्य कार्यस्य सत एवाऽन्यतो देशादागमनं प्रागवस्थितकटकुड्यादिहेतुकत्वं चाऽपाकृतमवसेयम् । तथा कदाचित् प्रत्यक्षपुरःसरेणाऽनुपलम्भेन गृह्यते । यत उक्तम्- "तत्रैकाभावेऽपि नोपलभ्यते तत् तस्य कार्य" मिति । तच्च कथं संगच्छते ? । कार्यकारणप्रत्यक्षादीनां क्षणिकत्वेन परस्परवार्तानभिज्ञानात् ।

अथ कारणं वह्न्यादि धूमादिजननस्वभावमिति तथास्वभावतयैव तद् गृह्यते प्रत्यक्षेण, नाऽन्यथा । कार्यमपि च धूमादि वह्न्यादिकारणजन्यस्वभावमिति दृष्टं सत् तत् तथैव गृह्यते, नाऽन्यथा । तेन तदग्रहणप्रसङ्गात् । तत्सामर्थ्यप्रभवश्च विकल्पोऽपि तथैव प्रवर्त्तत इति युक्तः प्रत्यक्षानुपलम्भादिना कार्यकारणभावा-वसायः । भवति हि धूमजननस्वभावानलग्राहकं विज्ञानमनलजन्यस्वभावधूमविज्ञानं प्रति कारणम् । अन्यथाऽनलग्राहकेन विज्ञानेनाऽनलस्य धूमजननस्वभावतैव न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गृहीता स्यात् । ततश्चेत इदं भवतीति प्रत्यक्षत एव सिद्धे सति नाऽन्यदाऽन्यत्राऽन्यस्मादपि शक्रमूर्धादेर्धूमादि कार्यं भविष्यतीत्येवाऽसिद्धिः कार्यकारणभावस्याऽऽशङ्कनीया। प्रतिनियतादेव कुतश्चिदग्न्यादेः प्रतिनियतस्य धूमादेरुत्पत्तेः। अन्यथा धूमाद्यहेतुकमेव स्यात् । तथाहि-यद् यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत् तद्धेतुकम् । अन्यदा(था) चेदन्यस्मादपि धूमादि कार्यं भवेत् तर्हि न तद अग्न्यादिव्यतिरेकानुविधायि स्यात् । तथा च न तस्याऽग्न्यादिर्हेतुः स्यात् । अग्न्यादेश्च भवतो धूमादिकार्यस्य न घटादिव्यतिरेकानुविधायित्वमिति न तदपि तस्य हेतुर्भवेत्। एवं चोभयस्याऽपि तद्धेतुत्वाभावात् धूमादिकमहेतुकमेव प्राप्नोति, अहेतुकत्वाच्च सदा भावादिप्रसङ्गः। इति यद् यत एकदा भवद् दृष्टं तत् सर्वदा तत एव नेतरस्माद्- इति किमत्र न युक्तम् ? इति चेत्। न। कारणधर्मानुगमाभावाविशेषात् सर्वस्य सर्वकार्यत्वप्रसङ्गात् ।

अथ स्वभाव एवाऽतिप्रसङ्गदोषप्रतिषेधं करोतीति चे [त्]......

—x—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केटलीक प्रकीर्ण लघु-रचनाओ

सं. विजयशीलचन्द्रसूरि

जुदां जुदां छूटां पानांमांथी मळी आवेली चारेक नानी रचनाओ अहीं आपी छे. तेनो परिचय आ प्रमाणे छे :-

१. प्रथम, पांच पद्यमय, संस्कृत तीर्थंकरस्तवन छे. तेनो प्रारंभ जोतां 'तोटक' छंद समजाय छे. जो के सर्वत्र तेनो निर्वाह थतो नथी जणातो. एटले तोटक छंदानुकारी गेय गीत होवानुं मानी शकाय. पांचमुं पद्य हरिगीत छन्दमां छे. कृति शुद्धप्राय छे. कर्ता अज्ञात छे; नामनिर्देश कळातो नथी. छेल्ली पंक्तिमां आवतो 'राजहंस' शब्द कर्ताना नामनुं सूचन करतो हशे ? 'ऋषभादि' 'वीर' पर्यन्त २४ जिननी नामो-पूर्वक स्तवना आमां थई छे.

२. आ-पण २४ जिननां नामोवाळुं संस्कृत स्तवन छे- ४ पद्योनुं. आ पद्यो प्रात:काले मांगलिक पाठरूपे बोलवा-सांभळवानी अभिलाषाथी रचायुं हशे, तेम तेमां दरेक श्लोकने प्रांते आवता 'मम सुप्रभातं' शब्दोथी लागे छे. वसन्ततिलका छंद छे. कर्ता अज्ञात छे. अशुद्ध रचना छे, तेथी यथाशक्य सुधारीने आनी साथे ज फरी आ स्तवन आपेल छे.

३. 'अमृतधुन' नामक त्रीजी रचना भाषामां छे. गेय छे. कर्ता अज्ञात छे. एक २०मी सदीनी प्रतिना छेडे आ जोवा मळतां ते यथावत् उतारी अत्रे आपी छे. रचना संवत् नो अंदाज आवतो नथी. रचनाना शब्दो वांचतां आ कोई रोगादि उपद्रवो शमाववा माटे रचाएली मंत्र-तंत्रमय रचना के 'छंद' होवानुं प्रतीत थाय छे. भाषा तथा पदच्छेद, अर्थ वगेरे समजवानुं दुष्कर होवाथी जेम छे तेम ज छापी छे. कोई जाणकार आ विशे प्रकाश पाडी शके. 'अमृतधुन' एवुं नाम पण भयजनक स्थितिथी बचावनार बाबत होवानुं समजावे छे. खास कोनी स्तुति हशे ते स्पष्टता नती थती, छतां बीजी कडीमां 'चंडका' शब्द छे ते 'चंडिका'नो संकेत करतो जणाय छे.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. चोथी रचना छे 'मेवाडको कवित'. कर्ता छे कवि जिनेन्द्र नामना जैन मुनि. मारवाडी जबानमां लखायेल आ कवित हाटकी छंदमां छे. द्विभंगी छंद जेवो आ छंद लागे. 'मेवाड' देशनी निन्दा करती आ रचना बनाववा पाछळनो हेतु ए लागे छे के कवि-मुनिने तेमना गच्छपतिए मेवाडना कोई गामे चातुर्मास करवानी आज्ञा आपी हशे, तदनुसार तेओए ते प्रदेशमां चोमासुं तथा विहार कर्यां हशे. ते समये तेमने जे विकटताओ वेठवी पडी होय तेनाथी नाराज थईने आ कवित जोडी काढ्युं छे. कवितना प्रांते क्र.९ना दूहामां तेमणे गच्छनायक साहिबने विनंती करी छे के 'उदेपुर सिवाय मेवाडमां क्यांय जवानी आज्ञा हवे भूलमांये न देजो', ते सूचक छे.

रचनासमय १९मो सैको होवानुं अनुमानी शकाय. लेखन संवत १९५३ तो प्रांते लखेल छे ज. कवित मारवाडी भाषामां होई शब्दार्थ समजवा जरा कठिन छे. छतां थोडाक शब्दोना समजाया तेवा अर्थ पाछळ आप्या छे. भूल होय तो ध्यान दोरवा तज्ज्ञोने विनंती.

अज्ञातकर्तृकं

तीर्थंकरस्तवनम् ॥

सुरकिन्नरनागनरेन्द्रनुतं प्रणमामि युगादिमजिनमजितम् ।
सम्भवमभिनन्दनमथ सुमतिं पद्मप्रभुमुज्ज्वलधीरनतम् ॥१॥

वन्देऽजसुपार्श्वजिनेन्द्रमहं चन्द्रप्रभमष्टककर्मदहम् ।
सुविधिप्रभुशीतलजिनयुगलं, श्रेयांसमसंशयमतुलबलम् ॥२॥

प्रभुमर्चय नृपवसुपूज्यसुतं जिनविमलमनन्तपभक्तिमतम् ।
मम धर्ममधर्मनिवारिगुणं श्रीशान्तिमनुत्तरकान्तिगुणम् ॥३॥

कुन्थुश्रीअरुमल्लीशजिनान् सुव्रतनमिनेमींस्तमसि दिनान् ।
श्रीपार्श्वजिनेन्द्रमतेन्द्रसमं वन्दे जिनवीरमधीरतमम् ॥४॥

इति नागकिन्नरनरपुरन्दरसेवितक्रमपङ्कजा-
निर्जित्य महारिपुमोहमत्सरवाममदमकरध्वजाः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विलसन्ति सततं सकलमङ्गलकेलिकाननसन्निभाः

सर्वे जिना मे हृदयकमले राजहंसमप्रभाः ॥५॥

इति श्री २४ तीर्थंकरस्तवनम् ॥

—x—

'सुप्रभातं' स्तवन (अज्ञातकर्तृक) ॥

श्रीनाभिनन्दनजिनोऽजितसम्भवेशं
देवोऽभिनन्दनमुने सुमते जिनेन्द्र ।
पद्मप्रभः प्रणुत देव सुपार्श्वनाथ-
चन्द्रप्रभोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम् ॥१॥

श्रीपुष्पदन्तपरमेश्वर शीतलाय
श्रीयान् जिनो विगतमानसुवासुपूज्यः ।
निर्दोषवाग्विमलविश्वजनीनवृत्ते
श्रीमाननन्त भव तं मम सुप्रभातम् ॥२॥

श्रीधर्मनाथगणभृतनशान्तिनाथ
कुन्थुर्महेशपरमारविमारमल्लि ।
सत्यव्रतेशमुनिसुव्रतसन्नमिह
नेमिः पवित्र भव तं मम सुप्रभातम् ॥३॥

श्रीपार्श्वनाथपरमार्थविदन्तरेण
श्रीवर्धमानहतमानविमानबोधः ।
युष्मत्पदद्वयमिदं स्मरणं ममास्तु
कैवल्यवस्तुविशदं मम सुप्रभातम् ॥४॥

इति सुप्रभातस्तवन समाप्तः ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(शुद्ध करेली वाचना)

श्रीनाभिनन्दनजिनोऽजितशम्भवेशौ
देवोऽभिनन्दनमुनिः सुमतिर्जिनेन्द्रः ।
पद्मप्रभः प्रणतदेवसुपार्श्वनाथ-
श्चन्द्रप्रभोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम् ॥१॥

श्रीपुष्पदन्त-परमेश्वरशीतलो यः
श्रेयान् जिनो विगतमानसुवासुपूज्यः ।
निर्दोषवाग्विमलविश्वजनीनवृत्तिः
श्रीमानन्तभगवान् मम सुप्रभातम् ॥२॥

श्रीधर्मनाथगणभृन्नतशान्तिनाथः
कुन्थुर्महेशपरमार-विमारमल्लिः ।
सत्यव्रतेशमुनिसुव्रत सन्नमीह (मिश्र ?)
नेमिः पवित्रभगवान् मम सुप्रभातम् ॥३॥

श्रीपार्श्वनाथपरमार्थविदन्तरेण
श्रीवर्धमानहतमानविमानबोधः ।
युष्मत्पदद्वयमिदं स्म(श?)रणं ममास्तु
कैवल्यवस्तुविशदं मम सुप्रभातम् ॥४॥

—x—

अज्ञात-कर्तृक

अमृतधुन लिख्यते ॥

धरनपरधुकतधरसमरधुरनादधुः
षिप्रसरचक्रनिसतंकखंडैः ।
सतषणीसूलउन्मादपरसादसुत
छोहबलपरगचुकमारचंडैः ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिन जिही रात हर षातसुरशतबल
तरलविवुसिद्धरिवसरलतंडै:
चंडकाचारउड्डुंडभवडंडमै:
डमरआखंडरविचरण मंडै ॥

तो मडडमर: अखंडडमडम: चंडडुलचत:
मंडधरपत: शत्रुत्रजत निसभभ्रतजत:
थंभभयत: उदभभरायत: जगगहत:
मयंगरबदरंगतरगमयंगतजयुं
मधु धुकतसमधुधमधमकंधधरणवसधरणी ॥१॥

—x—

कवि जिनेन्द्रकृत

मेवाडको कवित

दुहा ॥

मन धर माता भारती, कवियां कौतिक काज ।
गुणवर्णन **मेवाडना**, करसुं कोइक काज ॥१॥
देश घणाई देखीया, के वलि सुणीया कांन ।
मेदपाट सम को नही, देखत होइ हेरांन ॥२॥

छंद हाटकी ॥

नही उन्हो खाणो नही दोझाणो राणा केरो देश
जव मक्की रोटा छोटा खोटा खारी खाय हमेस ।
लुका सुका आहारी सहू नरनारी काला पहिरण वेस
मेवाडे देसे भूले चूके मत करज्यो परवेस ॥१॥

पगपग जिहा माठा काठा भाटा ठोकर लागे ठेस
बालकने बुढा सहू नर मूढा भण्या नही लवलेस ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधनंग्या जंघ्या पहिरण नितका वतका कलेस
मेवाडे देसे भूले चूके मत करज्यो परवेस ॥२॥

जिहां नरने मुढे डाढी मोटी छोटी मोथां केश
वली राखे पट्टा जट्टा मोट्टा भुंडा पेट विसेस ।
मुहडा पीलरीया नर विल्लरीया ओझाहीन नरेस
मेवाडे देसे भूले चूके मत करज्यो परवेस ॥३॥

कहिसे बरीया वली टे घडीया एहवा सहेजे बोल
सो वरसासें घाहुवेआसे घाहीया फुटा ढोल ।
नीपजें भाषल्ला नही ते भल्ला नहि कंबल नहि खेस
मेवाडे देसे भूले चूके मत करज्यो परवेस ॥४॥

जिहां नर रोगीला वली योगीला छल्ली फीया पेट
नर वांता करतां करे लडाई धम्माधम्म-चपेट ।
पीये सब कोई भा(भां)ग तिजारा आफू-गंजा वेस
मेवाडे देसे भूले चूके मत करज्यो परवेस ॥५॥

नवी चले गाडी वहिल न चलें रथ नवी चले एम
एक पोठ्या हीडे जे ध[र]णी खेडे पूछ मरोडे जेम ।
घरबारी जोगी जंगम संगम सिंगी वली दरवेस
मेवाडे देसे भूले चूके नवि करज्यो परवेस ॥६॥

जिहां लगे पांणी खोटा खांणी वाय चोरासी गेह
माकण ने माछर छाछण ने सुरला बहूला दीसे तेह ।
जिनधर्मी थोडा घणा मिथ्याती माने देव महेस
मेवाडे देसे भूले चूके मत करज्यो परवेस ॥७॥

माथे पागडीया बांधे जेहवी आरीसानो म्यान
मोटी रुद्राछ बांदी सरिसी घाल हलावें कांन ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नासे पहिलाथी फोजा फीटी डुंगर करे प्रवेश
मेवाडे देसे भूले चूके मत करज्यो परवेस ॥८॥

जिहा डायण सायण गोगा मोगा भूतप्रेत असंख्य
तसकर पासीगर घणा ठगारा ते वली घाले खंग ।
गछनायक साहिब एक **उदेपुर** विना मत दीज्यो आदेस
मेवाडे देसे भूले चूके मत करज्यो परवेस ॥९॥

इणविध मेवाडको कवित **कविजिनैंद्र**कृत छंद ।
एक **उदेपुर** हे भलो सो रहज्यो चिरंनंद ॥१०॥

इति संपुर्ण १९५३ पोस वदि १ लि. पं. केसरकुसल ।

छंदक्र.	चरण	शब्द	अर्थ
१	१	दोझाणो	दूझणुं, गायभेंश
१	२	मक्की रोटा	मकाईना रोटला
१	३	लुका सुका	लूखा सूखा
२	१	काठा	झांखरा-कांटा
२	१	भाठा	पथरा
२	३	वतका	–
३	१	छोटी, मोथां	चोटी, माथां-मस्तक
३	२	पट्टा	लांबा वाळ (?)
३	२	जट्टा	जटा (?)
३	३	मुहडा	मों-मुख
३	३	पीलरीया	पीळा-फिक्का(?)
३	३	विल्लरीया	–
३	३	ओझाहीन	ओज-रहित(?)
४	१	बरीया	–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४	२	घाहुवेआसे	–
४	३	भाषल्ला	–
५	१	छल्ली फीया	–
५	३	तिजारा	–
५	३	आफू	अफीण
७	२	छाछण	चांचड
७	२	सुरला	सरवला-जन्तु विशेष
८	२	रुद्राछा	रुद्राक्ष(?)
८	२	घाल	घालीने-नाखीने
८	३	फोजा	फोज (?)
९	१	डायण	डाकण
९	१	सायण	शाकण
९	१	गोगा मोगा	गोगादेव-नागदेव (?)
९	२	तसकर	चोर
९	२	पासीगर	ठग-फांसीगर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वसुधारा धारणी अने 'वसो'नुं वसुधारामंदिर

-विजयशीलचन्द्रसूरि

'वसुधारा' ए हजारो वर्षो थया अत्यंत लोकप्रिय अने सर्वस्वीकृत एक बाबत छे. वैदिक, जैन अने बौद्ध ए त्रणे मूळ भारतीय धाराओ वसुधाराने एक के बीजा स्वरूपे स्वीकारे छे, बल्के दरेक धारा, 'एनुं उद्गमस्थान पोताने त्यां ज छे' एवुं पण माने छे, अने ए ज आनी व्यापक लोकप्रियतानी निशानी छे.

वैदिको आनां मूळ अथर्ववेदमां जुए छे. अथर्ववेद-प्रसिद्ध लक्ष्मी अने कुबेर ते ज वसुधारा अने तेनो (बौद्ध) सहचर 'जम्भल' छे. वेदमां तेना माटे 'वसुधानी' अने 'वसुदा' जेवा शब्दो प्रयोजायेला जोवा मळे छे. यजुर्वेदमां सातमा-आठमा अध्यायमां, वृष्टि अने अन्नप्राप्ति माटे करवाना एक हवननुं नाम 'वसुधारा' छे, एम पण जाणवा मळे छे, जे आजे पण थतुं होवानुं जोवा-जाणवामां आवे छे. उत्तराखण्डना कुमाऊ प्रदेशमां, कहे छे के, अत्यारे पण अमुक विधि-विधान-प्रसंगे वसुधारा प्रवाहित करवामां आवे छे.[१] गढवालमां पण विवाहादि प्रसंगे वसुधारानुं वेदोक्त विधान प्रचलित छे.

बौद्धौ-अनुसार रत्नसंभव बुद्ध के अक्षोभ्य बुद्ध थकी उद्भव पामेली देवी ते ज वसुधारा छे. वज्रयान संप्रदाय एनी उत्पत्ति पंचध्यानी बुद्धो थकी थयानुं माने[२] छे. बौद्ध धर्मना साहित्यमां वसुधारा धारणी, आर्यश्री वसुधारा नाम अष्टोत्तर शतक, वसुंधरादेवी व्रत, सुचन्द्रावदान, वसुधारा धारणी कथा, आर्य वसुधारानाम धारणी, वसुधारा साधना, वसुधारा धारण्युपदेश, वसुधाराधारणीकल्प, वसुश्रीकल्प जेवी अनेक, के पछी अनेक नामे ओळखाती कोईएक- कृतिओ उपलब्ध [३]छे, जे बौद्ध परंपरामां प्रचलित कर्मकांडमां आ धारणी, विशेष के खूब लोकप्रिय हशे तेवुं सूचवी जाय छे.

जैन परंपरामां कर्मकांडना प्रकार तरीके 'वसुधारा-धारणी' बहु पाछळना समयमां प्रवेशी होय तेम जणाय छे. जैन लेखको द्वारा लखाएली अने जैन भंडारोमां सचवाएली आ धारणीनी हस्तप्रतिओ १५मा शतक पूर्वनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राय: प्राप्य नथी, तेथी लागे छे के १५मा शतक आसपास जैन कर्मकांडोमां आ वस्तुने प्रवेश मळ्यो होवो जोईए. अलबत्त, बौद्ध परंपरामां तो आ धारणीनो प्रचार विक्रमनी त्रीजी सदीमां हशे तेम लागे छे.[४] जैनोए तेनुं ज अनुसरण कर्युं छे.

परंतु 'वसुधारा'नी विभावना तो जैन धारामां पण बहु पुराणी छे. जैन तीर्थंकरो तथा विशिष्ट तपस्वी मुनिओ ज्यारे तपनां पारणे आहार ग्रहण करे, त्यारे ते गृहस्थना आंगणे पांच दिव्य प्रगटे छे, तेमां वसुधारा पण थती होवानी वात जैन आगमो वगेरेमां प्रसिद्ध छे. तीर्थंकरोना च्यवन (अवतरण) पछी तथा जन्म समये पण आवी वसुधारा थती होय तेनुं वर्णन पण मळे ज छे. भगवती-विवाहपन्नत्तीसूत्र नामे पांचमा अंग-आगमसूत्रना १५मा शतकमां 'वसुधारा वुट्ठा' एवो; तो कल्पसूत्रमां 'वसुहारवासं च वासिंसु' एवो पाठ उपलब्ध छे. समवायांगसूत्र तथा सूत्रकृतांग अने ज्ञाताधर्मकथांग वगेरे सूत्रोमां पण आवा उल्लेखो मळी रहे छे. तो हरिभद्रसूरिनी 'समराइच्चकहा'मां 'न सव्वहा मंदपुण्णाणं गेहे वसुहाराओ पडंति' एवो पाठ जोवा मळे छे. आ तमाम उल्लेखोगत 'वसुधारा'नो संबंध तप वगेरेना प्रभावने कारणे दिव्य शक्तिओ द्वारा थती धननी वृष्टि साथे समजवानो छे.

एवी कल्पना थाय के पहेलां तो तपश्चर्यानो तीव्र प्रभाव ज देवोने वसुधारा करवानी प्रेरणा आपतो हशे. पण कालांतरे-समयना वीतवा साथे तप करवानी वृत्ति तथा तेवा तपस्वीमां होवी जोईती निरीहतानो ह्रास थतो गयो, अने 'मारी के मारा भक्तनी पासे धन होवुं जरूरी छे' तेवी स्पृहा वधती गई, तेथी आवां मांत्रिक कर्मकांड अने ते माटेना पाठ तथा आम्नायोनुं सर्जन थयुं हशे. ए मंत्र तथा अनुष्ठानथी आकर्षाता देवो वसुधारा वरसावता हशे के भक्त-उपासकने धनसंपत्ति आपतां हशे. एक समय एवो हतो के वैदिक, बौद्ध, जैन ए त्रणे धाराओ भारत वर्षमां महदंशे सर्वत्र सहअस्तित्व धरावती हती; अने वळी ते धाराओ वच्चे मुठभेडो पण थया करती, तो आवी बाबतोनुं आदान-प्रदान पण थतुं रहेतुं. आवा कोई मोके वसुधारा धारणीने जैनोए अपनावी होय तो बनवाजोग छे. जोके आनो कोई आधार-पुरावो न मळे. डो. बनारसीदास जैने नोंध्युं छे के-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"जैनलोग वीतराग द्वारा प्रतिपादित निवृत्तिमार्ग पर चलनेवाले भिक्षुसमुदाय के उपासक है । ऐसी दशा में मंत्र, तंत्र, यंत्र आदि में उनको रुचि और श्रद्धा नहीं हो सकती । यूं तो प्राचीन जैन साहित्य में मंत्र-तंत्र के उल्लेख विद्यमान है, परंतु स्वार्थसिद्धि के लिये उनका प्रयोग निषिद्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक और बौद्ध मंत्र से प्रभावित होकर जैनोंने भी इनको अपनाया और अपने मन्तव्योंका रंग देकर पद्मावती कल्प, नमस्कार कल्प, शक्रस्तव कल्प, सूरिमंत्र कल्प आदिकी रचना की । प्रतीत होता है कि जैन धर्म में धारणी-पूजाकी प्रवृत्ति करानेवाले यति लोग थे।"[५]

एटलुं तो स्पष्ट छे के 'वसुधारा धारणी' ए नामनुं मांत्रिक अनुष्ठान, तेना पाठ साथे, बौद्धोमांथी जैनोए अपनावेलुं छे. हजी हमणां सुधी, क्यांक क्यांक तो अत्यारे पण, आ अनुष्ठान दीवाली वगेरे तहेवारोमां जैनो करतां रह्या छे-करे छे. तेनी विधिनी पद्धति-आम्नाय तथा मंत्र-यंत्र-पाठ वगेरे लिखित तथा मुद्रित स्वरूपमां उपलब्ध पण छे ज.

वसुधारा-धारणीनी प्राप्त वाचनामां निर्देश्युं छे ते मुजब, गरीब थई गएला सुचन्द्र नामना श्रावकने भगवान बुद्धे आ धारणी आपेली, जेना प्रभावथी ते पुनः धनिक थयेलो. आनो अर्थ एके निर्धन जनो धनप्राप्ति माटे आ वसुधारानुं अनुष्ठान करता अने करे छे.

बर्लिन युनिवर्सिटीना प्राध्यापक स्व. डॉ. चन्द्रभाल त्रिपाठीए एक प्रत्यक्ष वातचीतमां कहेलुं के वसुधारा धारणीनी त्रण वाचनाओ मळे छे. एक, मूळ बौद्ध वाचना, जे एकदम संक्षिप्त वाचना छे. बे, भारतीय वाचना, जे प्रथमनी तुलनामां विस्तृत, जेने जैन वाचना तरीके पण ओळखावी शकाय; केम के जैनोए ते वाचना स्वीकारी होवानुं, जैन भंडारोमां मळती सेंकडो पोथीओ परथी सिद्ध थाय छे. त्रीजी नेपाली-नेपालप्रसिद्ध वाचना छे, जे घणी विस्तृत छे.

डॉ. त्रिपाठी पासे आ त्रणे वाचनाओ हती, अने ते विषे तेओ संशोधन पण करी रह्या हता, तेम तेमणे ज कहेलुं, तेटलुं प्रसंगोपात्त नोंधी दउं. बाकी बीजा नंबरनी वाचनानुं संपादन डॉ. पद्मनाभ जैनीए कर्युं छे, जे प्रकाशित पण छे.[६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२)

वसुधारा धारणी-विधान साथे संबंध धरावनारी एक ऐतिहासिक बाबत विशे पण अहीं विवरण करवुं छे. गुजरातमां चरोतर प्रदेशमां खेडा अने मातर नामनां गामोनी समीपे वसो नामनुं गाम छे. आ गाममां वसोधारा अथवा वसुंधरा मातानुं मंदिर छे, तेमां वसुंधरा के वसो मातानी स्थापना होवाना उल्लेखो मळे छे. जो के तेनो संबंध वसुधारा जोडे होवानुं कोईए नोंध्युं नथी. पहेलां आ अंगेना उपलब्ध आधारो जोईए :-

'चरोतर सर्व संग्रह' नामे, चरोत्तर-प्रदेशनो सामान्य परिचय आपतो एक ग्रंथ बे खंडोमां मुद्रित छे. तेमां छपायेली विगतो प्रमाणे- "संवत १२२४मां वाच्छा पटेले वसो गाम वसावेलुं. वहीवंचाना चोपडामां 'वाच्छा'ना नामे 'वसो' वस्यानी नोंध छे. ते वखते वसुंधरा मातानुं त्यां मंदिर हतुं, अने ते खेडाना राजा मोरध्वजनां कुलदेवी गणातां." ग्रंथमां विशेष नोंध आ शब्दोमां छे : "आ ज प्रमाणे 'वसुंधरा' मातानुं स्थान पण वसोनी मध्ये 'वसोधारा' माता तरीके आजे पण मोजुद छे. एटलुं ज नहि, पण समस्त गामना कुळदेवी तरीकेनुं तेनुं स्थान अने प्रतिष्ठा आजे पण सचवाई रह्यां छे." आम छतां आ वसुधरा के वसोधारा देवी कया छे, अथवा 'वसुधारा' साथे तेमने कोई संबंध छे के केम, ते विषे आ ग्रंथमां कोई निर्देश नथी मळतो.

गुजरातना एक संशोधक श्रीहरिलाल गौदानी वसुंधरादेवीनो अर्थ भू एटले के पृथ्वी देवी करे छे. तेमना हिसाबे वच्छा पटेले वसो वसाव्युं ते पहेलां पण आ स्थळे वसुंधरा मातानुं मंदिर हतुं. बल्के वसोथीये पुराणुं नगर सिंहानगर, जे पांचमी सदीनुं होवानुं श्रीगौदानी जणावे छे, अने आजे सिंहोलडी नामे गामडारूपे अस्तित्व धरावे छे, त्यांना राजा मोरध्वजनां वसुंधरादेवी कुळदेवी हता तेम कहेवाय छे. श्रीगौदानी-अनुसार, हालनुं वसुंधरा मातानुं मंदिर, पुरातन ध्वस्त मंदिरना स्थाने बांधवामां आवेलुं ३०० वर्ष (आशरे) जूनुं छे, तेमज असल देवी प्रतिमानो कां तो ध्वंस थयो होय, कां तो ते दटाई गई होय, पण अत्यारे ते स्थाने महिषासुरमर्दिनी देवीनी प्रतिमा स्थापित छे. श्री गौदानी 'वसुंधरा'नो पृथ्वी अर्थ करीने ज चाल्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छे, अने तेनी कोई स्वतंत्र प्रतिमा गुजरातमांथी हजी मळी नथी आवी, तेम नोंधीने, तेनुं वर्णन मानसार, विष्णुधर्मोत्तर वगेरे ग्रंथोमां होवानुं सूचन आपे छे. परंतु 'वसो'ने अने 'वसुंधरा'ने 'वसुधारा' साथे पण संबंध होई शके ते विशे तेओ अजाण ज लागे छे.

हवे आ अंगेना नवा उपलब्ध संदर्भ विषे वात करुं. कविबहादुर पंडित श्रीदीपविजयजी नामक प्रसिद्ध जैन मुनि १९-२०मा सैकामां थई गया. तेओ कवि हता, विद्वान हता. तेमणे रचेली गेय रचनाओ आजे पण जैन संघ होंशे होंशे गाय छे. आ कविए २०मा सैकानां आरंभिक वर्षोमां वसो-स्थित 'वसुधारा' मातानां दर्शन, त्यां आराधना, तेमज ते देवीनुं चित्रांकन-करेल होवानुं तेओ पोते निर्देशे छे. ते उपरथी केटलाक निष्कर्षो निःसंदेह प्राप्त थाय छे : १. 'वसो'ना मंदिरना देवी वसोमाता, वसोधारा, वसुंधरा एवा गमे ते नामे ओळखातां होय तो पण ते वास्तवमां 'वसुधारा' देवी ज हतां. २. श्रीदीपविजयजीए ते-देवीसन्मुख साधना करी छे तथा तेनुं चित्र पण आलेख्युं छे, तेथी तेओ त्यां गया ते समये त्यां महिषासुरमर्दिनी न होतां वसुंधरा/ वसुधारानी ज प्रतिमा हती ते स्पष्ट थाय छे. ३. श्रीदीपविजयजीए "वसुधारा मंडल १, वसुधारादेवी चित्र २, वसुधाराविधान ३, एम ३ वानांनो उद्धार पोते कर्यानुं नोंध्युं छे, तेथी तेओ आना साधक हता तेवुं, तेमज तेमना समयमां आ साधना खूब प्रचारमां हशे तेवुं फलित थाय छे.

पण ते बधांथी वधु, एक अटकळ एवी करवी प्राप्त थाय छे के मध्यकालमां, के कदाच तेथीये जूना काळमां, वसो के सिंहानगर-ए बौद्ध परंपरानुं केन्द्र रह्युं हशे, अने बौद्ध तांत्रिको द्वारा आ वसुधारा-मंदिर निर्माण पाम्युं हशे. पुरातत्त्व-गवेषको तथा इतिहासविदो आ विषयमां सूक्ष्म गवेषणा करे अने प्राचीन मंदिर तथा मूल देवी-प्रतिमानी शोध करवाना प्रयत्न करे, तो जरूर कांईक नवो प्रकाश सांपडे.

श्रीदीपविजयजीए वसुधारा देवीनो चित्रपट आलेख्यो छे, ते आ अंकमां ज (मुखपृष्ठ पर) छापवामां आव्यो छे. ते चित्रमां तेमणे स्वहस्ते लखेली नोंध आम वंचाय छे :-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"संवत् १९०२ वर्षे तपागच्छे भ. श्रीविजयधनेस्वरसूरीराज्ये पं. दीपविजयकविराजेन पूर्वपरंपरागत उद्धरित वसुधारा मंडल १ वसुधारादेवी चित्र २ वसुधाराविधान ३.

श्रीगुजरातदेस चडोत्तर मध्यभागे । श्रीवसोग्रामे । भक्तजनकारापित महान देवल । तन्मध्यनिवासीनी सकल जनइच्छित पूरनी वसुधारादेवी चित्रं। श्रेयः ।

हिरण्यसुवर्णवृष्टिवरसनी सुचंद्रगृहपतीसंकटउद्धरनी देवी चित्रं । श्रेयः । मंडलविधान पुस्तकसे करना ॥"

आ प्रमाणभूत लखाण एटलुं स्पष्ट छे के वसुंधरा एटले पृथ्वी-एवी कल्पना निराधार ठरे छे.

पादटीपो :

१. पूर्णिमा पाण्डे. वसुधारा: वेद से लोक-तक की यात्रा, नवनीत (हिन्दी) डाइजेस्ट, जुलाई १९८५

२. ए ज.

३. पद्मनाभ एस. जैनी. वसुधारा धारणी, श्री महावीर जैन विद्यालय गोल्डन ज्युबीली वॉल्युम.

४. डा. बनारसीदास जैन. जैनोंमें धारणी-पूजा. श्रीजैनसत्यप्रकाश - वर्ष-१०, अंक ८, पृ. १६३-६४.

५. एज.

६. महावीर जैन विद्यालय गोल्डन ज्युबीली वोल्युम, इंग्लिश सेक्शन, पृ. ३७

७. 'चरोतर सर्वसंग्रह' भाग १-२

८. डो. हरिलाल आर. गौदानी, 'महागुजरातनां शिल्प अने स्थापत्य' अमदावाद. ई. १९९२. मां 'वसुंधरा मातानुं मंदिर' - लेख.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टूंक नोंध

'योगबिन्दु'- वृत्तिना एक पाठनी समस्या

भवविरहांकित श्रीहरिभद्रसूरिकृत 'योगबिन्दु' उपर श्रीमुनिचन्द्रसूरिनी वृत्ति, मुद्रितरूपमां, प्राप्त छे. आ वृत्तिमां संपादनने हजी खासो अवकाश छे. जरूरी सामग्री-प्रतो वगेरेना आधारे एनुं पुनः संपादन आवश्यक गणाय. अत्रे तेमांनी एक नानी समस्या प्रत्ये ध्यान दोरवुं छे.

'अध्यात्म' योगथी 'समाधि' योग सुधीना योगोनी साधनानी फलश्रुतिरूपे साधक 'केवलज्ञान'प्राप्त करे छे, ए स्थितिनुं वर्णन श्लोक ४२०-२६मां थयुं छे. ते पछीनां बे (४२७-२८) पद्योमां मतांतरो वर्णव्यां छे, तेमां श्लोक ४२७मां बे मतांतर छे :

१. "**केचित्**" अने २. "**अन्ये**". "केचित्'नो परिचय वृत्तिकारे "जैमिनीय" तरीके आप्यो छे, अने "अन्ये" नो परिचय "सांख्य" एम कराव्यो छे. जे योग्य ज छे.

श्लोक ४२८मां पण "अन्ये" शब्द तो छे ज. ते श्लोक आ प्रमाणे छे :

"चैतन्यमात्मनो रूपं, न च तज्ज्ञानतः पृथक् ।
युक्तितो युज्य**तेऽन्ये** तु, ततः केवलमाश्रिताः ॥"

आ श्लोकगत '**अन्ये**' नो अर्थ वृत्तिकारे "**जैनाः**" एम कर्यो छे, जे गळे उत्तरे तेम नथी. केमके- मूळ वादी 'जैन' छे. ते पोताने अभिमत सिद्धांतनुं निरूपण करी चूक्या छे. त्यार पछी तेओ, ए विषयना मतांतरोनो निर्देश आपवापूर्वक, पछीना श्लोकोमां, तेनुं खण्डन करवा मागे छे. तो मूळ वादी पोते ज पोताने 'अन्ये तु' कहीने उल्लेखे, ए केटलुं विसंगत लागे छे! पोताने 'वयं तु'कहीने उल्लेखे तो ते हजीये समजाय; परंतु पोतानी वात माटे पोताना मत ने मतांतर गणीने 'अन्ये' तरीके पोताने ओळखावे ए तो केम गळे ऊतरे ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बीजी वात : ४२८मा पद्यनी वृत्तिमां "चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपं" इति वचनप्रामाण्यात्", एवो पाठ छे. हवे आ पाठ मूळे तो पातंजल योगसूत्रना व्यास भाष्यनी पंक्ति छे, (पातंजल० समाधिपादे सूत्र ९ना भाष्यमां) अने तेथी आ मत, योगदर्शन'नो अभिमत होवानुं सूचन मळे छे. तेथी 'अन्ये तु'नो अर्थ **'पातंजलास्तु'** एम कल्पी शकाय. चैतन्य, आत्मा अने ज्ञान-ए बधांनो एकान्ते अभेद माननारा अभिमतनो तेमां संकेत होवो जोईए; जे अभेद 'स्याद्'वादी जैनोने संमत न बने, तो ते समजाय तेम छे. अथवा तो पातंजलदर्शनगत सिद्धान्तनी कोई सूक्ष्म बाबतनो आ मतांतररूपे निर्देश थयो होय तो पण शक्य छे. सूक्ष्मप्रज्ञ जनो आ विशे विशेष प्रकाश पाडी शके. परंतु, आटला उपरथी एवा तारण पर आवीए के "अन्ये तु-जैनाः" एवुं विवरण, अने तेथी ज तेने अनुसरीने थयेल बाकीनुं पद्यविवरण बराबर नथी, तो तेमां कांई भ्रांति नहि गणाय. छतां तज्ज्ञो विशेष स्पष्टीकरण आपे तो आनंद ज थशे.

शी.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशन-माहिती

(१)

आचार्य भद्रबाहु कृत **आवश्यक निर्युक्ति** (खण्ड १)

सं. डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञा

प्र. जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं - ३४१३०६ (राजस्थान)

ई. २००१

प्रसिद्ध आगम ग्रंथ 'आवश्यक सूत्र' परनी निर्युक्तिना पाठनुं निर्धारण अने संपादन, आ ग्रंथमां संपादिकाए आपेल छे. भाष्य अने निर्युक्तिनी गाथाओ एकमेक साथे एवी तो जोडाई गयेली छे के आ गाथा भाष्यनी छे के निर्युक्तिनी ते कळवुं घणीवार मुश्केल थई पडे. तेनो विवेक करी आपवानो प्रयास संपादिका द्वारा आ पुस्तकमां थयो छे. टिप्पणो तथा परिशिष्टोथी ग्रंथ विशेष समृद्ध तेमज उपादेय बनी गयो छे.

(२)

भगवतीचूर्णि

सं. रूपेन्द्रकुमार पगारिया

प्र. ला.द.भा.सं. विद्यामन्दिर, नवरंगपुरा, अमदावाद-३८०००९

ई.स. २००२

मूळे विस्तृत, पण त्रुटितस्वरूपे उपलब्ध, श्रीभगवती-विवाहपन्नत्ती सूत्र परनी अज्ञातकर्तृक चूर्णिनुं आ संपादन-प्रकाशन प्रथमवार ज थयुं छे. पहेलां ४ शतकनी चूर्णि अनुपलब्ध होई पांचमा शतकथी तेनो प्रारंभ थयो छे. वृत्तिकार श्रीअभयदेवसूरिजीए पोतानी व्याख्यामां अनेकत्र निर्देश करेल चूर्णि ते आ चूर्णि छे, एम संपादके नोंध्युं छे. चूर्णि एटले मूळ ग्रंथ के आगमनी प्राकृत (केटलेक अंशे संस्कृतमिश्र) व्याख्या.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३)

उपमितिकथोद्धार कर्ता : पं. हंसरत्नगणि

सं. आ. विजयमुनिचन्द्रसूरि

प्र.आ.ओंकारसूरि ज्ञानमंदिर, गोपीपुरा, सूरत - ३९५००१

वि.सं. २०५८

श्रीसिद्धर्षिगणिए रचेल कथाग्रंथ 'उपमितिभवप्रपंचा'ने केन्द्रमां राखीने, अनेक लघु ग्रंथो रचाया छे. केटलाक तदाधारित पण स्वतंत्र कृतिरूप, तो केटलाक तेना कथासार रूप. १८मा शतकमां विद्यमान श्रीहंसरत्नगणिए रचेलो कथासार आ पुस्तकमां प्रथमवार प्रकाशित छे.

(४)

उपदेशमाला बालावबोध (बे भागमां) कर्ता : श्री सोमसुंदरसूरि

संशोधक : डो. कान्तिभाई बी. शाह, अमदावाद, (ई. २००२)

प्र. प्राणगुरु जैन फिलो. एन्ड लि. रिसर्च सेन्टर, मुंबई-४०००८६

'उपदेशमाला' ए श्रीधर्मदास गणिकृत महान धर्मग्रंथ छे, प्राकृत भाषामध्य गाथाबद्ध. तेना पर संस्कृत-प्राकृत टीकाओ घणी रचाई छे. केटलीक मुद्रित पण छे. आ संपादन तेना परना बालावबोधनुं छे. १५मा शतकमां थयेला प्रभावक अने परम विद्वान् जैनाचार्य सोमसुंदरसूरिजीए आ बालावबोध रचेल छे. बाल जीवोने मूळ ग्रंथनो बोध करावे तेवी गुजराती भाषानिबद्ध व्याख्या ते बालावबोध. अद्यावधि अप्रगट आ व्याख्यानुं हस्तप्रतिओना आधारे सरस अने दाखलारूप संपादन करीने संपादके जैन साहित्यनी रूडी सेवा करी छे. बालावबोध आप्या पछी, दरेक गाथाने छेडे, सरल गुजराती अर्थ पण मूक्यो छे. ग्रंथांते शब्दकोश तथा अन्य उपयोगी परिशिष्टो पण छे.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(५)

भक्तामर एक सचित्र-यंत्र अंग्रेजी प्रकाशन

अंग्रेजी सारगर्भ-पद्यानुवाद : मकरंद दवे

यंत्र- चित्रालेखन : साधक शिवानन्द सरस्वती

प्र. A Divine Darshan Publication, Chicago, U.S.A.

ई. २००२

जैन जगतनुं जगप्रसिद्ध स्तोत्रकाव्य भक्तामर (मूळ पाठ) संस्कृत (नागरी) तथा गुजराती - बन्ने लिपिमां; तेनो अंग्रेजीमां सारगर्भित काव्यात्मक अनुवाद; साधक शिवानन्दे आलेखेलां यंत्र-चित्रो; तेनां ऋद्धि-मंत्रो-मूळ तेमज अंग्रेजीमां, आ बधुं आ उत्तम रीते मुद्रण पामेला प्रकाशनमां समावायुं छे. मकरंद दवेए लखेल आमुख 'An Insight' मननीय छे. भारतमां तेनुं प्राप्तिस्थान क्यांय जणाव्युं नथी.

(६)

HEMACANDRA - The lives of the jain Elders

A new translation by R.C.C. Fynes

- OXFORD WORLD'S CLASSICS

Oxford university Press, USA. (1998)

श्रीहेमचन्द्राचार्य कृत 'परिशिष्टपर्व'नुं अंग्रेजी भाषांतर - प्रकाशन. परिशिष्टो, टिप्पणो, भूमिका वगेरे युक्त.

(७)

श्रमण भगवान् महावीर (पुनःमुद्रण : ई. २००२)

ले. पं. कल्याणविजय गणि

प्र. शारदाबेन चिमनभाई एज्यु. रिसर्च सेन्टर, शाहीबाग, अहमदाबाद-४

जाणीता इतिहासविद मुनिराजे लखेलुं भगवान् महावीरनुं आ चरित्र,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐतिहासिक दृष्टिए घणुं मूल्यवान छे. हिन्दी भाषामां छे. पूर्वे प्रकाशित होवा छतां आ संस्करणने 'प्रथम आवृत्ति' तरीके केम गणाव्युं छे ते सवाल थई शके.

(८)

निर्ग्रन्थ ऐतिहासिक लेख समुच्चय (बे खंडमां)

ले. मधुसूदन ढांकी

प्र. श्रेष्ठी कस्तूरभाई लालभाई स्मारक निधि, शाहीबाग, अमदावाद-४

ई. २००२

विख्यात स्थापत्यविद्, पुरातत्त्व, इतिहास, कलाओ अने पुरातन शास्त्रोना ज्ञाता डॉ. मधुसूदन ढांकीना, जुदे जुदे समये लखायेला अने अन्यान्य जग्याए प्रकाशित थयेला, ऐतिहासिक तथा स्थापत्यकीय वगेरे संशोधनना लेखोना संचयरूप आ बे ग्रंथो छे. जिज्ञासाना अने मध्यस्थताना भावपूर्वक आ ग्रंथो परिशीलनीय छे.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्मृतिशेष

जैन सिद्धान्तो, मध्यकालीन भाषा अने साहित्य, प्राकृत, अपभ्रंश तथा संस्कृत साहित्य अने भाषा, इतिहास वगेरेना प्रकाण्ड अभ्यासी श्रावक विद्वान् श्रीभंवरलाल नाहटानुं कोलकत्तामां ताजेतरमां (११ फेब्रु. २००२) दुःखद अवसान नीपज्युं होवाना समाचार छे. तेमणे दायकाओ सुधी जैन विद्यानी अथाग उपासना करी छे. असंख्य शोधलेखो तो लख्या ज, उपरांत अनेक कृतिओनां संपादन पण कर्यां, अपभ्रंश वगेरे भाषाओमां गद्य-पद्य रचनाओ पण करी, अने अनेक पुस्तको पण लखेल छे. तेमनी चिरविदायथी जैन साहित्यना क्षेत्रने अपूरणीय खोट पडी छे. 'अनुसन्धान' पत्रिका परत्वे तेमणे ऊंडो सद्भाव दाखव्या कर्यो हतो. तेमना आत्माने शांति हो !

★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org